॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः
(सातवाँ अध्याय)

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—

पार्थ	=हे पृथानन्दन!	**युञ्जन्**	=अभ्यास करता हुआ	**यथा**	=जिस प्रकारसे
मयि	=मुझमें			**ज्ञास्यसि**	=जानेगा,
आसक्तमनाः	=आसक्त मनवाला,	**माम्**	=(तू) मेरे	**तत्**	=उसको (उसी प्रकारसे)
मदाश्रयः	=मेरे आश्रित होकर	**समग्रम्**	=(जिस) समग्ररूपको		
योगम्	=योगका	**असंशयम्**	=निःसन्देह	**शृणु**	=सुन।

विशेष भाव—जिसका मन स्वाभाविक ही भगवान्‌की तरफ खिंच गया है, जो सर्वथा भगवान्‌के आश्रित हो गया है और जिसने भगवान्‌के साथ अपने स्वतःसिद्ध नित्ययोग (आत्मीय सम्बन्ध) को स्वीकार कर लिया है, वह भक्त भगवान्‌के समग्ररूपको जान लेता है। सब कुछ भगवान् ही हैं—यह भगवान्‌का समग्ररूप है।

‘**मय्यासक्तमनाः**’ में प्रेमकी और ‘**मदाश्रयः**’ में श्रद्धाकी मुख्यता है।

‘**समग्रं माम्**’—इसमें ‘**समग्रम्**’ (समग्ररूप) विशेषण है और ‘**माम्**’ (भगवान्) विशेष्य हैं। भक्तका सम्बन्ध विशेषणके साथ न होकर विशेष्यके साथ होता है।

छठे अध्यायके अन्तमें ‘**श्रद्धावान्भजते यो माम्**’ पदोंमें आये ‘**माम्**’ का क्या स्वरूप है—इसको भगवान् यहाँ बताते हैं कि वह ‘**माम्**’ मेरा समग्ररूप है।

‘**यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु**’—उस समग्ररूपका वर्णन मैं इस प्रकार, ढंग, युक्ति, शैलीसे करूँगा, जिससे तू मेरेको सुगमतापूर्वक यथार्थरूपसे जान लेगा।

अर्जुनने पिछले अध्यायमें अपना संशय प्रकट किया था—‘**एतन्मे संशयं कृष्ण०**’ (६। ३९), इसलिये भगवान् कहते हैं कि अब मैं वही बात कहूँगा, जिससे कोई संशय बाकी न रहे।

~~~

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ २॥

ते	=तेरे लिये	**अशेषतः**	=सम्पूर्णतासे	**इह**	=इस विषयमें
अहम्	=मैं	**वक्ष्यामि**	=कहूँगा,	**ज्ञातव्यम्**	=जाननेयोग्य
इदम्	=यह	**यत्**	=जिसको	**अन्यत्**	=अन्य (कुछ भी)
सविज्ञानम्	=विज्ञानसहित	**ज्ञात्वा**	=जाननेके बाद	**न, अवशिष्यते**	= शेष नहीं रहेगा।
ज्ञानम्	=ज्ञान	**भूयः**	=फिर		
~~~

विशेष भाव—परा तथा अपरा प्रकृतिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है—यह 'ज्ञान' है और परा-अपरा सब कुछ भगवान् ही हैं—यह 'विज्ञान' है। अतः अहम्-सहित सब कुछ भगवान् ही हैं—यही विज्ञानसहित ज्ञान है।

'ज्ञातव्यम्'—जिसको अवश्य जानना चाहिये और जो जाना जा सकता है, उसको 'ज्ञातव्य' कहते हैं।

विज्ञानसहित ज्ञानको अर्थात् भगवान्के समग्ररूपको जाननेके बाद फिर जाननेयोग्य कुछ भी शेष नहीं रहता अर्थात् जो यथार्थ तत्त्व जानना चाहता है, उसके लिये जानना कुछ भी बाकी नहीं रहता। कारण कि जब एक भगवान्के सिवाय किंचिन्मात्र भी कुछ है ही नहीं (गीता ७। ७), तो फिर जाननेयोग्य क्या बाकी रहेगा?

यहाँ कोई कह सकता है कि 'विज्ञानसहित ज्ञान' कहनेसे ज्ञानकी मुख्यता और विज्ञानकी गौणता हुई? परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। केवल 'ज्ञान' से मुक्ति तो हो जाती है, पर प्रेमका अनन्त आनन्द तभी मिलता है, जब उसके साथ विज्ञान भी हो। 'ज्ञान' धनकी तरह है और 'विज्ञान' आकर्षण है। जैसे धनके आकर्षणमें जो सुख है, वह धनमें नहीं है, ऐसे ही 'विज्ञान' (भक्ति) में जो आनन्द है, वह 'ज्ञान' में नहीं है। 'ज्ञान' में तो अखण्डरस है, पर 'विज्ञान' में प्रतिक्षण वर्धमान रस है। इसलिये 'विज्ञानसहित ज्ञान' कहनेमें भगवान्का लक्ष्य मुख्यरूपसे 'विज्ञान' की तरफ ही है और उसीको भगवान् श्रेष्ठ बताना चाहते हैं; क्योंकि 'विज्ञान' समग्रताका वाचक है।

~~~

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ३॥

सहस्रेषु	= हजारों	**यतति**	= यत्न करता है (और)	**कश्चित्**	= कोई (एक)
मनुष्याणाम्	= मनुष्योंमें	**यतताम्**	= (उन) यत्न करनेवाले	**अपि**	= ही
कश्चित्	= कोई (एक)			**माम्**	= मुझे
सिद्धये	= सिद्धि (कल्याण) के लिये	**सिद्धानाम्**	= सिद्धों (मुक्त-पुरुषों) में	**तत्त्वतः**	= यथार्थरूपसे
				वेत्ति	= जानता है।

विशेष भाव—कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग आदि जितने साधन हैं, उन साधनोंसे (यत्न करते हुए) जो सिद्ध हो चुके हैं, ऐसे जीवन्मुक्त ज्ञानी महापुरुषोंमें भी 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इस प्रकार भगवान्के समग्ररूपको यथार्थरूपसे अनुभव करनेवाले प्रेमी भक्त दुर्लभ हैं* (गीता ७। १९)।

'यततामपि सिद्धानाम्'—वे सिद्ध अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुष अपनी स्थिति (मुक्तावस्था) से असन्तुष्ट हैं और उनके भीतर परमप्रेम (अनन्तरस) को प्राप्त करनेकी उत्कण्ठा है, भूख है। इसलिये ब्रह्मसूत्रमें आया है—**'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्'** (१। ३। २) 'उस प्रेमस्वरूप भगवान्को मुक्त पुरुषोंके लिये भी प्राप्तव्य बताया गया है'। कारण यह है कि मुक्त होनेपर नाशवान् रसकी कामना तो मिट जाती है, पर अनन्तरसकी भूख नहीं मिटती। वह भूख भगवान्की कृपासे ही जाग्रत् होती है। तात्पर्य है कि जो भगवान्पर श्रद्धा-विश्वास रखते हुए साधन करते हैं, जिनके भीतर भक्तिके संस्कार हैं, उनको भगवान् ज्ञानमें सन्तुष्ट नहीं होने देते, उसमें टिकने नहीं देते और उनकी मुक्तिके रसको फीका कर देते हैं।

सिद्ध (मुक्त) तो कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी आदि सभी हो सकते हैं, पर भगवान्के समग्ररूपको जाननेवाले सब नहीं होते। अतः **'यततामपि सिद्धानाम्'** पदोंका तात्पर्य है कि वे यत्न करते हुए अपनी पद्धतिसे सिद्ध तो हो गये, पर मेरे समग्ररूपको नहीं जान सके! कारण कि मेरे समग्ररूपको पराभक्तिसे ही जाना जा सकता है—

---

* **धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी॥**
सब ते सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति रत गत मद माया॥
(मानस, उत्तर० ५४। ३-४)
~~~

'**भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः**' (गीता १८। ५५)।

'**कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः**'—यहाँ '**माम्**' पद समग्र परमात्माका वाचक है। भगवान्‌के समग्ररूपको भगवान्‌की कृपासे ही जाना जा सकता है, विचारसे नहीं (गीता १०। ११)। अर्जुनने भी गीता सुननेके बाद भगवान्‌से कहा है कि आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और स्मृति प्राप्त हो गयी—'**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत**' (१८। ७३)। जैसे दूध पिलाते समय गाय अपने बछड़ेको स्नेहपूर्वक चाटती है तो उससे बछड़ेकी जो पुष्टि होती है, वह केवल दूध पीनेसे नहीं होती। ऐसे ही भगवान्‌की कृपासे जो ज्ञान होता है, वह अपने विचारसे नहीं होता; क्योंकि विचार करनेमें स्वयंकी सत्ता रहती है।

केवल निर्गुणको जाननेवाला परमात्माको तत्त्वसे नहीं जानता, प्रत्युत सगुण-निर्गुण दोनोंको (समग्रको) जाननेवाला ही परमात्माको तत्त्वसे जानता है।

कर्मयोगसे 'शान्त आनन्द' (शान्ति) की प्राप्ति होती है, क्योंकि संसारके साथ सम्बन्ध होनेसे ही अशान्ति होती है। कर्मयोगसे संसारका सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे शान्ति प्राप्त हो जाती है—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२। १२)। ज्ञानयोगसे 'अखण्ड आनन्द' की प्राप्ति होती है। अखण्ड आनन्दको 'निजानन्द' भी कहते हैं; क्योंकि यह अपने स्वरूपका आनन्द है। निजानन्दमें जीवका ब्रह्मके साथ साधर्म्य हो जाता है अर्थात् जैसे ब्रह्म सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है, ऐसे ही जीव भी सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हो जाता है—'**मम साधर्म्यमागताः**' (गीता १४। २)। यद्यपि निजानन्दकी प्राप्ति होनेपर साधकमें कोई कमी नहीं रहती, फिर भी जिसके भीतर भक्तिके संस्कार हैं और भगवान्‌की कृपाका आश्रय है, उसको निजानन्दमें सन्तोष नहीं होता*। उसके भीतर 'अनन्त आनन्द' की भूख रहती है। अतः भक्तियोगसे 'अनन्त आनन्द' की प्राप्ति होती है। निजानन्द तो अंश (स्वरूप) का आनन्द है, पर अनन्त आनन्द अंशी (भगवान्) का आनन्द है। यह सिद्धान्त है कि वस्तुके आकर्षणमें जो सुख होता है, वह सुख वस्तुके ज्ञानमें नहीं होता। जैसे, रुपयोंके लोभमें जो सुख मिलता है, वह रुपयोंका ज्ञान होनेसे नहीं मिलता। रुपयोंका ज्ञान होनेसे उनका उपयोग करना तो आ जायगा, पर विशेष आकर्षण नहीं होगा। 'और मिले, और मिले'—यह आकर्षण तो लोभ होनेसे ही होगा। रुपयोंका सुख तो लोभरूप दोषके कारण दीखता है, वास्तवमें है नहीं, पर भगवान्‌का आनन्द निर्दोष प्रेमके कारण है, जो वास्तवमें है। कारण कि भगवान्‌का ही अंश होनेसे जीवमें अंशी (भगवान्) का आकर्षण स्वतः है। यह सिद्धान्त है कि अंशका अंशीकी तरफ स्वतः आकर्षण होता है; जैसे—पृथ्वीका अंश होनेसे ऊपर फेंका गया पत्थर स्वतः पृथ्वीकी तरफ खिंचता है, अग्नि स्वतः सूर्यकी तरफ (ऊपर) खिंचती है†, नदियाँ स्वतः समुद्रकी तरफ खिंचती हैं, आदि।

हमें भगवान्‌की आवश्यकता क्यों है?—इसपर विचार करें तो मालूम होता है कि हमारी कोई ऐसी आवश्यकता है, जिसको हम न तो अपने द्वारा पूरी कर सकते हैं और न संसारके द्वारा ही पूरी कर सकते हैं। दुःखोंका नाश करनेके लिये और परमशान्तिको प्राप्त करनेके लिये हमें भगवान्‌की आवश्यकता नहीं है। कारण कि अगर हम कामनाओंका सर्वथा त्याग कर दें तो स्वतः हमारे दुःखोंका नाश होकर परमशान्तिकी प्राप्ति हो जायगी—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' अर्थात् हम मुक्त हो जायँगे। हमें परमप्रेमकी प्राप्तिके लिये ही भगवान्‌की आवश्यकता है; क्योंकि हम भगवान्‌के ही अंश हैं।

जो मनुष्य सांसारिक दुःखोंसे छूटना चाहता है, पराधीनतासे छूटकर स्वाधीन होना चाहता है, उसकी मुक्ति हो जाती है। परन्तु जो मनुष्य संसारसे दुःखी होकर ऐसा सोचता है कि कोई तो अपना होता, जो मेरेको अपनी

---

* जो मुक्त हो जाता है, उसको तो स्वाभाविक ही सन्तोष हो जाता है, पर जिसके भीतर भक्तिके संस्कार हैं, उसको सन्तोष नहीं होता। कारण कि भक्तिके संस्कारवालेपर भगवान् विशेष कृपा करते हैं और उसको कहीं अटकने नहीं देते।

† यहाँ शंका हो सकती है कि रातको सूर्य नहीं रहता, फिर भी अग्नि रातको ऊपरकी तरफ क्यों जाती है? इसका समाधान है कि रात हो या दिन, सूर्य कहीं भी रहे, वह सदा पृथ्वीसे ऊपर ही रहता है। इसलिये जैसे भारतके लोग सूर्यको पृथ्वीसे ऊपर देखते हैं, ऐसे ही (पृथ्वीमण्डलपर भारतसे लगभग विपरीत दिशामें स्थित) अमेरिकाके लोग भी सूर्यको ऊपर ही देखते हैं।

शरण लेकर, अपने गले लगाकर मेरे दु:ख, सन्ताप, पाप, अभाव, भय, नीरसता आदिको हर लेता, उसको भक्ति प्राप्त हो जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि मुक्ति पानेके लिये ईश्वरकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत भक्ति पानेके लिये ईश्वरकी आवश्यकता है। जब मनुष्य इस बातको जान लेता है कि इतने बड़े संसारमें, अनन्त ब्रह्माण्डोंमें कोई भी वस्तु अपनी नहीं है, प्रत्युत जिसके एक अंशमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, वही अपना है, तब उसके भीतर भगवान्‌की आवश्यकताका अनुभव होता है। कारण कि अपनी वस्तु वही हो सकती है, जो सदा हमारे साथ रहे और हम सदा उसके साथ रहें। जो कभी हमारेसे अलग न हो और हम कभी उससे अलग न हों। ऐसी वस्तु भगवान् ही हो सकते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब मनुष्यको भगवान्‌की आवश्यकता है, तो फिर भगवान् मिलते क्यों नहीं? इसका कारण यह है कि मनुष्य भगवान्‌की प्राप्तिके बिना सुख-आरामसे रहता है, वह अपनी आवश्यकताको भूले रहता है। वह मिली हुई वस्तु, योग्यता और सामर्थ्यमें ही सन्तोष कर लेता है। अगर वह भगवान्‌की आवश्यकताका अनुभव करे, उनके बिना चैनसे न रह सके तो भगवान्‌की प्राप्तिमें देरी नहीं है। कारण कि जो नित्यप्राप्त है, उसकी प्राप्तिमें क्या देरी? भगवान् कोई वृक्ष तो हैं नहीं कि आज बोयेंगे और वर्षोंके बाद फल मिलेगा! वे तो सब देशमें, सब समयमें, सब वस्तुओंमें, सब अवस्थाओंमें, सब परिस्थितियोंमें ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं। हम ही उनसे विमुख हुए हैं, वे हमसे कभी विमुख नहीं हुए।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ ५॥

भूमिः	= पृथ्वी,	**इति**	= इस प्रकार	**अन्याम्**	= भिन्न
आपः	= जल,	**इयम्**	= यह	**जीवभूताम्**	= जीवरूप बनी हुई
अनलः	= तेज,	**अष्टधा**	= आठ प्रकारके	**मे**	= मेरी
वायुः	= वायु,	**भिन्ना**	= भेदोंवाली	**पराम्**	= परा
खम्	= आकाश (—ये पञ्चमहाभूत)	**मे**	= मेरी	**प्रकृतिम्**	= प्रकृतिको
		इयम्	= यह	**विद्धि**	= जान,
च	= और	**अपरा**	= अपरा	**यया**	= जिसके द्वारा
मनः	= मन,	**प्रकृतिः**	= प्रकृति है;	**इदम्**	= यह
बुद्धिः	= बुद्धि	**तु**	= और	**जगत्**	= जगत्
एव	= तथा	**महाबाहो**	= हे महाबाहो!	**धार्यते**	= धारण किया जाता है।
अहङ्कारः	= अहंकार—	**इतः**	= इस अपरा प्रकृतिसे		

विशेष भाव—जब चेतन अपरा प्रकृतिके साथ तादात्म्य कर लेता है अर्थात् 'अहम्' के साथ एक होकर अपनेको 'मैं हूँ' ऐसा मान लेता है, तब वह जीवरूप बनी हुई 'परा प्रकृति' कहलाता है। 'अहम्' (मैं) से इधर जगत् (अपरा प्रकृति) है और उधर परमात्मा हैं। परन्तु जीव उन परमात्माको स्वीकार न करके, प्रत्युत उनकी अपरा प्रकृतिको स्वीकार करके उसको जगत्-रूपसे धारण कर लेता है और जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़ जाता है।

'अपरेयमितस्त्वन्याम्'—अपरासे अन्य परा है और परासे अन्य अपरा है। अपरा 'अन्य' अर्थात् विजातीय है। अन्यको पकड़नेसे ही परा 'जीव' बनी है—**'जीवभूताम्'।**

अपरा (परिवर्तनशील) और परा (अपरिवर्तनशील)—दोनों ही भगवान्‌की प्रकृतियाँ अर्थात् शक्तियाँ हैं, स्वभाव

हैं। भगवान्‌की शक्ति होनेसे दोनों भगवान्‌से अभिन्न हैं; क्योंकि शक्तिमान्‌के बिना शक्तिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। जैसे नख और केश निष्प्राण होनेपर भी हमारे प्राणयुक्त शरीरसे अलग नहीं हैं, ऐसे ही अपरा प्रकृति जड़ होनेपर भी चेतन भगवान्‌से अलग नहीं है— **'सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९। १९)। इस प्रकार जब अपरा और परा— दोनों प्रकृतियाँ भगवान्‌का स्वरूप हुईं तो फिर भगवान्‌के सिवाय क्या शेष रहा? कुछ भी शेष नहीं रहा—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९)। तात्पर्य है कि अपरा और परा—दोनों प्रकृतियोंके सहित भगवान्‌का स्वरूप 'समग्र' है अर्थात् परा-अपरा, सत्-असत्, जड़-चेतन सब कुछ भगवान् ही हैं।

'ययेदं धार्यते जगत्' का तात्पर्य है कि संसार न तो भगवान्‌की दृष्टिमें है और न महात्माकी दृष्टिमें है, प्रत्युत जीवकी दृष्टि (मान्यता) में है। भगवान्‌की दृष्टिमें सत्-असत् सब कुछ वे ही हैं—**'सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९। १९) और महात्माकी दृष्टिमें भी सब कुछ भगवान् ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९)। जीवने ही राग-द्वेषके कारण जगत्‌को अपनी बुद्धिमें धारण कर रखा है। इसी बातको आगे पन्द्रहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें **'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति'** पदोंसे कहा गया है। जगत्‌को सत्ता देनेसे ही राग-द्वेष पैदा होते हैं।

जीवने संसारकी सत्ता मान ली और सत्ता मानकर उसको महत्ता दे दी। महत्ता देनेसे कामना अर्थात् सुखभोगकी इच्छा पैदा हुई, जिससे जीव जन्म-मरणमें पड़ गया। तात्पर्य यह हुआ कि एक भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता माननेसे ही जीव संसार-बन्धनमें पड़ा है। अतः दूसरी सत्ता न माननेकी जिम्मेवारी जीवकी ही है। अगर वह संसारकी सत्ता न माने तो संसार है ही कहाँ?

भगवान्‌ने पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहम्—इन आठोंको अपरा (जड़) प्रकृति कहा है*। अतः जैसे पृथ्वी जड़ और जाननेमें आनेवाली है, ऐसे ही अहम् भी जड़ और जाननेमें आनेवाला है। तात्पर्य है कि पृथ्वी, जल आदि आठों एक ही जातिके हैं†। अतः जिस जातिकी पृथ्वी है, उसी जातिका अहम् भी है अर्थात् अहम् भी मिट्टीके ढेलेकी तरह जड़ और दृश्य है। अतः भगवान्‌ने अहम्‌को एतत्तासे कहा है; जैसे— **'एतद् यो वेत्ति'** (गीता १३। १)। **'एतत्'** (यह) कभी 'अहम्' (मैं) नहीं होता; अतः अहम्‌को एतत्तासे कहनेका तात्पर्य है कि यह अपना स्वरूप नहीं है। परन्तु जब चेतन (जीव) इस अहम्‌के साथ अपना तादात्म्य मान लेता है, तब वह बँध जाता है—**'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'** (गीता ३। २७)। इसीको चिज्जड़ग्रन्थि कहते हैं।

'अहङ्कार इतीयं मे'—यह धातुरूप अहंकार तो अपरा प्रकृतिका (जड़) है, पर 'मैं हूँ'—यह ग्रन्थिरूप अहंकार केवल अपरा प्रकृतिका नहीं है, प्रत्युत इसमें परा प्रकृति (चेतन) भी मिली हुई है। तत्त्वज्ञान होनेपर यह जन्म-मरण देनेवाला ग्रन्थिरूप अहंकार तो नहीं रहता, पर अपरा प्रकृतिका धातुरूप अहंकार रहता है।

क्रिया और पदार्थ न तो परा प्रकृतिमें हैं और न परमात्मामें हैं, प्रत्युत अपरा प्रकृतिमें हैं। अपरा प्रकृति क्रियारूप और पदार्थरूप है। परमात्मा प्रकृतिकी सहायतासे ही सृष्टि-रचना करते हैं। परा प्रकृति अर्थात् जीव क्रिया और पदार्थरूप अपरा प्रकृतिमें आसक्ति करके और उसका आश्रय लेकर बँध जाता है। अपराकी आसक्ति और उसका आश्रय लेना ही जगत्‌को धारण करना है। इसलिये भगवान्‌ने सातवें अध्यायके आरम्भमें ही **'मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः'** पदोंसे अपनेमें आसक्ति (प्रेम) करने और अपना आश्रय लेनेकी बात कही है। अगर जीव अपरा प्रकृतिमें आसक्ति न रखे और उसका आश्रय न ले तो वह 'मुक्त' हो जायगा। अगर वह भगवान्‌में आसक्ति (प्रेम) करे और उनका आश्रय ले तो वह 'भक्त' हो जायगा।

---

* पृथ्वी स्थूल है। पृथ्वीसे सूक्ष्म जल है। जलसे सूक्ष्म तेज है। तेजसे सूक्ष्म वायु है। वायुसे सूक्ष्म आकाश है। आकाशसे सूक्ष्म मन है। मनसे सूक्ष्म बुद्धि है। बुद्धिसे सूक्ष्म अहम् है। अपरा प्रकृतिमें अहम् सबसे सूक्ष्म है। इस प्रकार भगवान्‌ने स्थूलसे सूक्ष्मतक क्रमसे अपरा प्रकृतिका वर्णन किया है।

† एक अनेकमें अनुगत हो तो उसे 'जाति' कहते हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहम्—इन आठोंमें जातीय एकता तो है, पर स्वरूपकी एकता नहीं है अर्थात् जाति एक होनेपर भी इनका स्वरूप अलग-अलग है। इसीलिये इसको 'अष्टधा' कहा गया है। अपरा प्रकृतिका कार्य होनेसे यहाँ पृथ्वी, जल आदिको भी अपरा प्रकृति कहा गया है।

जगत्‌की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। बाँधनेवाला जगत् तो जीवने ही बना रखा है। जीव जगत्‌को धारण करता है, इसीसे सुख-दुःख होते हैं, बन्धन होता है, चौरासी लाख योनियाँ, भूत, प्रेत, पिशाच, देवता आदि योनियाँ तथा नरकोंकी प्राप्ति होती है। सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण कोई बाधा नहीं देते; परन्तु इनका संग करनेसे जीव ऊर्ध्वगति, मध्यगति अथवा अधोगतिमें जाता है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। गुणोंका संग जीव स्वयं करता है। अपरा प्रकृति किसीके साथ कोई सम्बन्ध नहीं करती। सम्बन्ध न प्रकृति करती है, न गुण करते हैं, न इन्द्रियाँ करती हैं, न मन करता है, न बुद्धि करती है। जीव स्वयं ही सम्बन्ध करता है, इसीलिये सुखी-दुःखी हो रहा है, जन्म-मरणमें जा रहा है। जीव स्वतन्त्र है; क्योंकि यह 'परा' अर्थात् उत्कृष्ट प्रकृति है। अपरा प्रकृति तो बेचारी कुछ नहीं करती; क्योंकि उसमें चेतना और कामना नहीं है। उससे सम्बन्ध जोड़कर, उसका सदुपयोग-दुरुपयोग करके जीव ऊँच-नीच योनियोंमें जाता है, भटकता है। तात्पर्य है कि अपरिवर्तनशील होते हुए भी जीव विजातीय जगत्‌के साथ सम्बन्ध जोड़कर परिवर्तनशील जगत्-रूप हो जाता है* (गीता ७। १३)। उसकी दृष्टि शरीरकी तरफ ही रहती है, अपने स्वरूपकी स्फुरणा होती ही नहीं!

जो हमसे सर्वथा अलग है, उस जगत् अर्थात् शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-अहम्‌के साथ अपनी एकता मान ली—यही जगत्‌को धारण करना है। वास्तवमें जगत् हमारा है ही नहीं; क्योंकि अगर हमारी चीज हमारेको मिल गयी होती तो हमारी कामनाएँ सदाके लिये मिट जातीं, हम निर्मम, निर्भय, निश्चिन्त, निष्काम हो जाते। परन्तु जगत् हमें ऐसी चीज नहीं दे सकता, जो हमारी हो अर्थात् जो हमसे कभी बिछुड़े नहीं। जो चीज वास्तवमें हमारी है, वह जगत्‌के द्वारा प्राप्त नहीं हो सकती, प्रत्युत जगत्‌के सम्बन्ध-विच्छेदसे प्राप्त हो सकती है। हमारी वस्तु है—परमात्मा। हम उस परमात्माके ही अंश हैं—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५।७)। उसकी प्राप्तिका उपाय (कर्मयोगकी दृष्टिसे) यह है कि जगत्‌से मिली हुई वस्तुओं (शरीरादि)-को जगत्‌की ही सेवामें लगा दें और बदलेमें उससे कुछ भी आशा (फलेच्छा) न रखें। उससे कोई सम्बन्ध न जोड़ें, न क्रियाके साथ, न पदार्थके साथ। सेवा करनेकी अपेक्षा भी किसीको दुःख न देना श्रेष्ठ है। किसीको भी दुःख न देनेसे, किसीका भी अहित न करनेसे सेवा अपने-आप होने लगती है, करनी नहीं पड़ती†। अपने-आप होनेवाली क्रियाका अभिमान नहीं होता और उसके फलकी इच्छा भी नहीं होती। अभिमान और फलेच्छाका त्याग होनेपर हमें वह वस्तु मिल जाती है, जो वास्तवमें हमारी है।

वास्तवमें अपरा प्रकृतिकी परमात्माके सिवाय अलग सत्ता है ही नहीं—'**नासतो विद्यते भावः**'। उसको विशेष सत्ता जीवने ही दी है। जैसे, रुपयोंकी अपनी कोई महत्ता नहीं है, हम ही लोभके कारण उसको महत्ता देते हैं। हम जिसको महत्ता देते हैं, उसीमें हमारा आकर्षण होता है। महत्ता तब देते हैं, जब दोषोंको स्वीकार करते हैं‡। काम-रूप दोषके कारण ही स्त्रीमें आकर्षण होता है, लोभ-रूप दोषके कारण ही धनमें आकर्षण होता है, मोह-रूप दोषके कारण ही कुटुम्ब-परिवारमें आकर्षण होता है, आदि। परन्तु दोषोंके साथ तादात्म्य होनेके कारण दोष दोषरूपसे नहीं दीखते और हमें इस बातका पता नहीं लगता कि हम ही उनको (अपरा प्रकृतिको) सत्ता और महत्ता दे रहे हैं। तादात्म्य मिटनेपर दोष तो रहते नहीं और गुण दीखते नहीं!

---

* यहाँ 'जगत्' शब्द परिवर्तनशीलका वाचक है—'गच्छतीति जगत्'।

† किसीका भी अहित न करनेसे दो बातें होंगी—हम कुछ नहीं करेंगे, अगर कुछ करेंगे तो हमारेसे सेवा ही होगी। कुछ न करना अथवा सेवा करना—इन दोनोंसे ही संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है। कारण कि कुछ न करनेमें कोई दोष होता ही नहीं और अपने-आप सेवा होनेसे सब दोष मिट जाते हैं। जैसे भोजन करनेमें 'मैं खाता हूँ'—इस प्रकार जो अभिमान होता है, वह भोजन पचनेमें नहीं होता; क्योंकि वह अपने-आप पचता है। ऐसे ही सेवा अपने-आप होनेसे कर्तृत्वाभिमान और फलासक्तिका त्याग स्वतः होता है।

‡ संसारके सब सुख दोषजनित हैं। दोषोंको स्वीकार करनेसे ही सुख दीखता है। कामके कारण ही मनुष्य स्त्रीके बिना नहीं रह सकता। लोभके कारण ही मनुष्य धनके बिना नहीं रह सकता। मोहके कारण ही मनुष्य परिवारके बिना नहीं रह सकता। दोषके कारण ही उसको त्यागका महत्त्व नहीं दीखता।

अनन्त ब्रह्माण्डोंमें तीन लोक, चौदह भुवन, जड़-चेतन, स्थावर-जंगम, थलचर-जलचर-नभचर, जरायुज-अण्डज-स्वेदज-उद्भिज्ज, सात्त्विक-राजस-तामस, मनुष्य, देवता, पितर, गन्धर्व, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, भूत-प्रेत-पिशाच, ब्रह्मराक्षस आदि जो कुछ भी देखने, सुनने, पढ़ने तथा कल्पना करनेमें आता है, उसमें 'परा' और 'अपरा'—इन दो प्रकृतियोंके सिवाय कुछ भी नहीं है। जो देखने, सुनने, पढ़ने तथा कल्पना करनेमें आता है और जिन शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-अहम्‌के द्वारा देखा, सुना, पढ़ा, सोचा जाता है, वह सब-का-सब 'अपरा' है। परन्तु जो देखता, सुनता, पढ़ता, सोचता, जानता, मानता है, वह 'परा' है। परा और अपरा—दोनों ही भगवान्‌की शक्तियाँ होनेसे भगवान्‌से अभिन्न अर्थात् भगवत्स्वरूप ही हैं। अतः अनन्त ब्रह्माण्डोंके भीतर तथा बाहर और अनन्त ब्रह्माण्डोंके रूपमें एक भगवान्‌के सिवाय किंचिन्मात्र भी कुछ नहीं है—**'वासुदेवः सर्वम्'** (७। १९), **'सदसच्चाहमर्जुन'** (९। १९)। संसारके सभी दर्शन, मत-मतान्तर आचार्योंको लेकर हैं, पर **'वासुदेवः सर्वम्'** किसी आचार्यका दर्शन, मत नहीं है, प्रत्युत साक्षात् भगवान्‌का अटल सिद्धान्त है, जिसके अन्तर्गत सभी दर्शन, मत-मतान्तर आ जाते हैं।

'अपरा' (जगत्) को स्वतन्त्र सत्ता जीवने ही दी है—**'ययेदं धार्यते जगत्'**। **'अपरा'** भगवान्‌की है, पर उसको अर्थात् शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-अहम्‌को अपना और अपने लिये मान लेनेसे ही जीव बन्धनमें पड़ा है। अतः साधकको अगर जगत् दीखता है तो यह उसकी व्यक्तिगत दृष्टि है। व्यक्तिगत दृष्टि सिद्धान्त नहीं होता। दीखना सीमित होता है, जबकि तत्त्व असीम है। जैसे, सूर्य थालीकी तरह दीखता है, पर वास्तवमें वह थालीके आकारका नहीं है, प्रत्युत पृथ्वीसे भी कई गुना अधिक बड़ा है!

अगर साधकको जगत् दीखता है तो उसको निष्कामभावपूर्वक जगत्‌की सेवा करनी चाहिये। जगत्‌को अपना और अपने लिये मानना तथा उससे सुख लेना ही असाधन है, बन्धन है। कारण कि हमारे पास शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदि जो कुछ भी है, वह सब जगत्‌का है और जगत्‌के लिये है। अतः जगत्‌की वस्तुको जगत्‌की सेवामें लगानेसे जगत् जगत्-रूपसे नहीं दीखेगा, प्रत्युत भगवत्स्वरूप दीखने लगेगा, जो कि वास्तवमें है। तात्पर्य है कि साधक चाहे जगत्‌को माने, चाहे आत्माको माने, चाहे परमात्माको माने, किसीको भी मानकर वह साधन कर सकता है और अन्तिम तत्त्व **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव कर सकता है।

~~~

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ६॥

सर्वाणि	= सम्पूर्ण		प्रकृतियोंका	**कृत्स्नस्य**	= सम्पूर्ण
भूतानि	= प्राणियोंके		संयोग ही कारण है—	**जगतः**	= जगत्‌का
	(उत्पन्न होनेमें)	**इति**	= ऐसा	**प्रभवः**	= प्रभव
एतद्योनीनि	= अपरा और	**उपधारय**	= तुम समझो।	**तथा**	= तथा
	परा—इन दोनों	**अहम्**	= मैं	**प्रलयः**	= प्रलय हूँ।

विशेष भाव—जो न खुदको जान सके और न दूसरेको जान सके, वह 'अपरा प्रकृति' है। जो खुदको भी जान सके और दूसरेको भी जान सके, वह 'परा प्रकृति' है। इन अपरा और परा—दोनोंके माने हुए संयोगसे ही सम्पूर्ण स्थावर-जंगम प्राणी पैदा होते हैं*।

मूल दोष एक ही है, जो स्थानभेदसे अनेक रूपसे दीखता है, वह है—अपराके साथ सम्बन्ध। इस एक दोषसे ही सम्पूर्ण दोष उत्पन्न होते हैं। यह एक दोष आ जाय तो सम्पूर्ण दोष आ जायँगे और यह एक दोष दूर

---

* **यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।**
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥ (गीता १३। २६)
~~~

हो जाय तो सम्पूर्ण दोष दूर हो जायँगे। इसी तरह मूल गुण भी एक ही है, जिससे सम्पूर्ण गुण प्रकट होते हैं, वह है—भगवान्‌के साथ सम्बन्ध।

अपराको चाहे नित्य मानें, चाहे अनित्य मानें, पर उसके साथ हमारा सम्बन्ध अनित्य है—यह सर्वसम्मत बात है। यह सम्बन्ध ही जन्म-मरणका कारण है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। यही संसारका बीज है।

मैं सम्पूर्ण जगत्‌का प्रभव तथा प्रलय हूँ—इसका तात्पर्य है कि इस स्थावर-जंगमरूप जगत्‌को मैं ही उत्पन्न करनेवाला हूँ और मैं ही उत्पन्न होनेवाला हूँ; मैं ही नाश करनेवाला हूँ और मैं ही नष्ट होनेवाला हूँ; क्योंकि मेरे सिवाय संसारका दूसरा कोई भी कारण तथा कार्य नहीं है (गीता ७। ७) अर्थात् मैं ही इसका निमित्त तथा उपादान कारण हूँ। अतः जगत्-रूपसे मैं ही हूँ। नवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भी भगवान्‌ने कहा है—'**अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन**' अर्थात् 'अमृत और मृत्यु तथा सत् और असत् भी मैं ही हूँ।' श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः॥

(११। २८। ६)

'जो कुछ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष वस्तु है, वह सर्वशक्तिमान् परमात्मा ही हैं। जो कुछ सृष्टि प्रतीत हो रही है, इसके निमित्त कारण भी वे ही हैं और उपादान कारण भी वे ही हैं अर्थात् वे ही विश्व बनाते हैं और वे ही विश्व बनते हैं। वे ही रक्षक हैं और वे ही रक्षित हैं। वे ही सर्वात्मा भगवान् इसका संहार करते हैं और जिसका संहार होता है, वह भी वे ही हैं।'

तैत्तिरीयोपनिषद्‌में आया है कि अन्न भी मैं ही हूँ और अन्नको खानेवाला भी मैं ही हूँ—'**अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः।**' (३। १०। ६)

तात्पर्य यह हुआ कि अपरा और परा प्रकृति तथा उनके संयोगसे पैदा होनेवाले सम्पूर्ण प्राणी—ये सब-के-सब एक भगवान् ही हैं। कारण भी भगवान् हैं और कार्य भी!

~~~

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७॥

इसलिये—

धनञ्जय	=हे धनञ्जय!		(कारण तथा कार्य)		(पिरोयी हुई होती हैं,)
मत्तः	=मेरे	**न**	=नहीं	**इव**	=ऐसे ही
परतरम्	=सिवाय (इस जगत्‌का)	**अस्ति**	=है।	**इदम्**	=यह
		मणिगणाः	=(जैसे सूतकी) मणियाँ	**सर्वम्**	=सम्पूर्ण जगत्
अन्यत्	=दूसरा कोई			**मयि**	=मेरेमें (ही)
किञ्चित्	=किंचिन्मात्र भी	**सूत्रे**	=सूतके धागेमें	**प्रोतम्**	=ओतप्रोत है।

विशेष भाव—जैसे सूतकी मणियाँ सूतके धागेमें पिरोयी हुई हों तो उनमें सूतके सिवाय और कुछ नहीं है, ऐसे ही संसारमें भगवान्‌के सिवाय और कुछ नहीं है। तात्पर्य है कि मणिरूप अपरा प्रकृति और धागारूप परा प्रकृति—दोनोंमें भगवान् ही परिपूर्ण हैं। मणियाँ बननेमें अपरा प्रकृतिकी मुख्यता है और धागा बननेमें परा प्रकृतिकी मुख्यता है। '**मणिगणाः**' पद बहुवचनमें देनेका तात्पर्य है कि अपरा प्रकृति स्थावर-जंगम, जलचर-थलचर-नभचर, चौदह भुवन, चौरासी लाख योनियाँ आदि अनन्त रूपोंमें और अनन्त समुदायोंमें विभक्त है।
~~~

अपरा और पराका भेद 'अपरा' प्रकृतिके कारण ही है; क्योंकि अपराको सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़नेके कारण ही जीव है (गीता ७। ५)। अत: अपरा प्रकृति जगत्में भी है और जीवमें भी। परन्तु परमात्मामें न अपरा है, न परा है; न जगत् है, न जीव है। तात्पर्य है कि वास्तवमें न धागा है, न मणियाँ हैं, प्रत्युत एक सूत (रुई) ही है। इसी तरह न अपरा है, न परा है, प्रत्युत एक परमात्मा ही हैं। इसी बातका भगवान्ने आगे बारहवें श्लोकतक वर्णन किया है। इस श्लोकमें आये **'मत्तः'** पदसे आरम्भ करके बारहवें श्लोकके **'मत्त एव'** पदोंतक भगवान्ने यही बात बतायी है कि मेरे सिवाय कुछ भी नहीं है। यहाँ **'मत्तः'** पद समग्र परमात्माका वाचक है, जो परा और अपरा दोनों प्रकृतियोंका मालिक है।

कारण ही कार्यमें परिणत होता है; जैसे, रुई ही धागा बनती है, बीज ही वृक्ष बनता है। अत: सबके परम कारण भगवान् होनेसे सब रूपोंमें भगवान् ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्।'** इसलिये भगवान्के सिवाय दूसरी सत्ताको देखना भूल है।

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति'—जो दोमें श्रेष्ठ हो, उसको 'परतर' कहते हैं। भगवान् अद्वितीय हैं, उनके सिवाय दूसरी कोई वस्तु ('पर') है ही नहीं, फिर वे 'परतर' कैसे हो सकते हैं? उनमें 'परतर' शब्द लागू ही नहीं होता। यहाँ भगवान्को अद्वितीय बतानेके लिये ही 'परतर' शब्द आया है। तात्पर्य है कि भगवान्से अन्य भी कुछ नहीं है और श्रेष्ठ भी कुछ नहीं है। उपनिषद्में आया है—

पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥

(कठ० १। ३। ११)

'पुरुषसे पर कुछ भी नहीं है। वही सबकी परम अवधि और वही परम गति है।'

अर्जुनने भी कहा है—

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव। (गीता ११। ४३)

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥ ८॥

कौन्तेय	=हे कुन्तीनन्दन!	**प्रभा**	=प्रभा (प्रकाश)	**शब्दः**	=शब्द
अप्सु	=जलोंमें	**अस्मि**	=मैं हूँ,		(और)
रसः	=रस	**सर्ववेदेषु**	=सम्पूर्ण वेदोंमें	**नृषु**	=मनुष्योंमें
अहम्	=मैं हूँ,	**प्रणवः**	=प्रणव (ओंकार),	**पौरुषम्**	=पुरुषार्थ
शशिसूर्ययोः	=चन्द्रमा और सूर्यमें	**खे**	=आकाशमें		(मैं हूँ)।

विशेष भाव—छठे-सातवें श्लोकोंमें भगवान्ने अपनेको सम्पूर्ण जगत्का कारण बताया है। इसलिये अब भगवान् आठवें श्लोकसे बारहवें श्लोकतक 'कारण'-रूपसे अपनी विभूतियोंका वर्णन करते हैं। यद्यपि कारणकी अपेक्षा कार्यमें विशेष गुण होता है, पर स्वतन्त्र सत्ता कारणकी ही होती है अर्थात् कारणके बिना कार्यकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। जैसे, मिट्टी कारण है और घड़ा कार्य है। घड़ेमें जल भरा जा सकता है, पर यह विशेषता मिट्टीमें नहीं है। परन्तु मिट्टीके बिना घड़ेकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। तात्पर्य है कि कारण ही कार्यरूपमें परिणत होता है। घड़ेकी रचनामें कर्ता, कारण और कार्य—तीनों एक नहीं होते अर्थात् कारण (मिट्टी) और कार्य (घड़ा) की तो एक सत्ता होती है, पर कर्ता (कुम्हार) की अलग (स्वतन्त्र) सत्ता होती है। परन्तु सृष्टिकी रचनामें कर्ता, कारण और कार्य—तीनों एक भगवान् ही होते हैं। अत: रस भी भगवान् हैं और जल भी भगवान् हैं। प्रभा भी भगवान् हैं और चन्द्र-सूर्य भी भगवान् हैं। ओंकार भी भगवान् हैं और वेद भी भगवान् हैं। शब्द भी भगवान् हैं और आकाश भी भगवान् हैं। पुरुषार्थ भी भगवान् हैं और मनुष्य भी भगवान् हैं।

[मिट्टी तो घड़ेके रूपमें परिणत होती है, पर परमात्मा संसारके रूपमें परिणत नहीं होते। कारण कि परिणत

होनेवाली वस्तु विकारी होती है, जबकि परमात्मा निर्विकार हैं। अत: जैसे अँधेरेमें रस्सी ही साँपके रूपमें दीखती है अथवा साँप ही कुण्डलीरूपमें दीखता है, ऐसे ही परमात्मा संसाररूपमें दीखते हैं। तात्पर्य है कि परमात्मामें कार्य-कारणका भेद नहीं है; क्योंकि उनके सिवाय अन्य कोई वस्तु है ही नहीं। कार्य-कारणका भेद मनुष्योंकी दृष्टिमें ही है। इसलिये मनुष्योंको समझानेके लिये अन्य वस्तुकी कुछ-न-कुछ सत्ता मानकर ही परमात्माका वर्णन, विवेचन, विचार, चिन्तन, प्रश्नोत्तर आदि किया जाता है—'**नोद्यं वा परिहारो वा क्रियतां द्वैतभाषया।**']

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥ ९॥

पृथिव्याम्	= पृथ्वीमें	**तेजः**	= तेज	**जीवनम्**	= जीवनीशक्ति (मैं हूँ)
पुण्यः	= पवित्र	**अस्मि**	= मैं हूँ	**च**	= और
गन्धः	= गन्ध	**च**	= तथा	**तपस्विषु**	= तपस्वियोंमें
च	= और	**सर्वभूतेषु**	= सम्पूर्ण प्राणियोंमें	**तपः**	= तपस्या
विभावसौ	= अग्निमें			**अस्मि**	= मैं हूँ।

विशेष भाव—सृष्टिकी रचनामें भगवान् ही कर्ता हैं, भगवान् ही कारण हैं और भगवान् ही कार्य हैं। अत: गन्ध और पृथ्वी, तेज और अग्नि, जीवनीशक्ति और प्राणी, तपस्या और तपस्वी—ये सब-के-सब (कारण तथा कार्य) एक भगवान् ही हैं। कारण कि परा और अपरा—दोनों ही भगवान्की शक्ति होनेसे भगवान्से अभिन्न हैं। अत: परा-अपराके संयोगसे पैदा होनेवाली सम्पूर्ण सृष्टि भगवत्स्वरूप ही है।

'**पुण्यो गन्धः**'—गन्ध-तन्मात्रा कारण है और पृथ्वी उसका कार्य है। गन्धको पवित्र कहनेका तात्पर्य है कि कारण (तन्मात्रा) सदा पवित्र ही होता है। अपवित्रता कार्यमें विकृति होनेसे ही आती है। अत: जैसे गन्ध-तन्मात्रा पवित्र है, ऐसे ही शब्द, स्पर्श, रूप और रस-तन्मात्रा भी पवित्र समझनी चाहिये।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥ १०॥

पार्थ	= हे पृथानन्दन!	**माम्**	= मुझे	**तेजस्विनाम्**	= तेजस्वियोंमें
सर्वभूतानाम्	= सम्पूर्ण प्राणियोंका	**विद्धि**	= जान।	**तेजः**	= तेज
सनातनम्	= अनादि	**बुद्धिमताम्**	= बुद्धिमानोंमें	**अहम्**	= मैं
बीजम्	= बीज	**बुद्धिः**	= बुद्धि (और)	**अस्मि**	= हूँ।

विशेष भाव— अपनेको सम्पूर्ण प्राणियोंका बीज कहनेका तात्पर्य यह है कि सब प्राणियोंके रूपमें मैं ही हूँ। सृष्टि अनन्त है। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त जीव हैं। परन्तु उन अनन्त जीवोंका बीज (परमात्मा) एक ही है। अनन्त सृष्टि पैदा होनेपर भी उस बीजमें कोई फर्क नहीं पड़ता; क्योंकि वह अव्यय है—'**बीजमव्ययम्**' (गीता ९। १८)। उस एक ही बीजसे अनेक प्रकारकी सृष्टि उत्पन्न होती है (गीता १०। ३९)। बीजको कितनी ही सूक्ष्म दृष्टिसे देखें, उसमें फल-फूल-पत्ते आदि नहीं दीखेंगे; क्योंकि वे उस बीजमें कारणरूपसे विद्यमान हैं। उस बीजसे पैदा होनेवाले वृक्षके दो पत्ते भी आपसमें नहीं मिलते—यह अनेकता भी उस एक बीजमें ही रहती है।

सृष्टिकी एक-एक वस्तुमें अनेक भेद हैं। विभिन्न देशोंमें मनुष्योंकी अनेक जातियाँ हैं। उनमें भी इतना भेद है कि दो मनुष्योंके अँगूठेकी रेखाएँ भी परस्पर नहीं मिलतीं। उनके रूप, स्वभाव, रुचि, प्रकृति, मान्यता, भाव आदि भी परस्पर नहीं मिलते। गाय, भैंस, भेड़, बकरी, घोड़ा, ऊँट, कुत्ता आदिकी अनेक जातियाँ हैं और उनकी एक-एक जातिमें भी अनेक भेद हैं। वृक्षोंमें भी एक-एक वृक्षकी अनेक जातियाँ होती हैं। एक-एक विद्याको देखें तो उसमें इतने भेद हैं कि उनका अन्त नहीं आता। मूल रंग तीन हैं, पर उनके मिश्रणसे अनेक रंग बन जाते हैं। उनमें भी एक-एक रंगमें इतने भेद हैं कि दो व्यक्तियोंको भी एक रंग समानरूपसे नहीं दीखता। इस प्रकार सृष्टिमें एक समान दीखनेवाली दो चीजें भी वास्तवमें समान नहीं होतीं। इतनी अनेकता होनेपर भी सृष्टिका बीज एक ही है। तात्पर्य है कि एक ही भगवान् अनेक रूपोंमें प्रकट होते हैं और अनेक रूपोंमें प्रकट होनेपर भी एक ही रहते हैं।*

भगवान् देश, काल आदि सभी दृष्टियोंसे अनन्त हैं। जब भगवान्‌की बनायी हुई सृष्टिका भी अन्त नहीं आ सकता तो फिर भगवान्‌का अन्त आ ही कैसे सकता है? आजतक भगवान्‌के विषयमें जो कुछ सोचा गया है, जो कुछ कहा गया है, जो कुछ लिखा गया है, जो कुछ माना गया है, वह पूरा-का-पूरा मिलकर भी अधूरा है। इतना ही नहीं, भगवान् भी अपने विषयमें पूरी बात नहीं कह सकते, अगर कह दें तो अनन्त कैसे रहेंगे?

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ ११॥

भरतर्षभ	= हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!		रागसे रहित	**धर्माविरुद्धः**	= धर्मसे अविरुद्ध (धर्मयुक्त)
बलवताम्	= बलवानोंमें	**बलम्**	= बल		
कामराग-विवर्जितम्	= काम और	**अहम्**	= मैं हूँ		
		च	= और	**कामः**	= काम
		भूतेषु	= प्राणियोंमें	**अस्मि**	= मैं हूँ।

विशेष भाव—जंगम सृष्टिमात्र कामसे पैदा होती है। अतः मनुष्यमें जो काम धर्मसे विरुद्ध नहीं है, मर्यादाके अनुसार है, वह काम भगवान्‌का स्वरूप है। भगवान् पहले कह चुके हैं—**'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति'** (७। ७) और आगे भी कहेंगे—**'ये चैव सात्त्विका भावा॰'** (७। १२), **'वासुदेवः सर्वम्'** (७। १९)। अतः जैसे धर्मयुक्त काम भगवान्‌का स्वरूप है, ऐसे ही धर्मविरुद्ध काम भी भगवान्‌से अलग नहीं है। जो धर्मविरुद्ध कामका आचरण करते हैं, उनको नरकरूपसे भगवान् मिलते हैं; क्योंकि नरक भी भगवान् ही हैं! परन्तु गीताका उद्देश्य मनुष्यको नरकोंमें अथवा जन्म-मरणमें भेजना नहीं है, प्रत्युत उसका कल्याण करना है। उद्देश्य सदा कल्याणका, आनन्दका ही होता है, दुःखका नहीं। दुःख कोई भी नहीं चाहता। अर्जुनने भी कल्याणकी बात पूछी है†। उदाहरणार्थ,

* प्राणियोंमें अनेकता होनेपर भी उनमें परस्पर प्रेमकी एकता होनी चाहिये। जैसे काँटा पैरमें गड़ता है, पर आँसू नेत्रोंमें आते हैं, ऐसा ही भाव सम्पूर्ण प्राणियोंमें रहना चाहिये—**'सर्वभूतहिते रताः'** (गीता ५। २५, १२। ४)। एकमात्र प्रेम ही ऐसी चीज है, जिसमें कोई भेद नहीं रहता। प्रेमका भेद नहीं कर सकते। प्रेममें सब एक हो जाते हैं। ज्ञानमें तत्त्वभेद तो नहीं रहता, पर मतभेद रहता है। प्रेममें मतभेद भी नहीं रहता। अतः प्रेमसे आगे कुछ भी नहीं है। प्रेमसे त्रिलोकीनाथ भगवान् भी वशमें हो जाते हैं।

† **'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे'** (गीता २। ७)
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ (गीता ३। २)
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ (गीता ५। १)

शब्द अच्छे भी होते हैं और बुरे भी, पर व्याकरणमें अच्छे शब्दोंपर ही विचार किया जाता है; क्योंकि व्याकरण आदि भी मनुष्यके उद्धारके लिये हैं।

~~~~

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥ १२॥

और तो क्या कहूँ—

ये	= जितने	**च**	= तथा	**विद्धि**	= समझो।
एव	= भी	**तामसाः**	= तामस (भाव हैं, वे सब)	**तु**	= परन्तु
सात्त्विकाः	= सात्त्विक			**अहम्**	= मैं
भावाः	= भाव हैं (और)	**मत्तः**	= मुझसे	**तेषु**	= उनमें (और)
ये	= जितने	**एव**	= ही होते हैं—	**ते**	= वे
च	= भी	**इति**	= ऐसा	**मयि**	= मुझमें
राजसाः	= राजस	**तान्**	= उनको	**न**	= नहीं हैं।

विशेष भाव—'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति' (७। ७) का विस्तार करते हुए भगवान्‌ने पिछले चार श्लोकोंमें जो बात कही है और जो बात नहीं कही है, वह सब-की-सब बात उपसंहाररूपसे भगवान्‌ने इस श्लोकमें कह दी है। भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण सात्त्विक, राजस और तामस भाव मेरेसे ही उत्पन्न होते हैं, मेरेसे ही सत्ता-स्फूर्ति पाते हैं, तथापि मैं इनमें नहीं हूँ और ये मेरेमें नहीं हैं अर्थात् सब कुछ मैं-ही-मैं हूँ। अतः मेरी प्राप्ति चाहनेवाले साधककी दृष्टि इन भावोंकी तरफ न जाकर मेरी तरफ ही जानी चाहिये। अगर वह उन भावोंमें ही उलझ जायगा तो कभी मुक्त अथवा भक्त नहीं हो सकेगा।

देखने, सुनने, समझने आदिमें जो भी भाव आते हैं और जो नहीं आते, वे सब-के-सब **'ये'** पदके अन्तर्गत समझने चाहिये।

भगवान्‌से उत्पन्न होनेके कारण यहाँ सात्त्विक, राजस और तामस गुणोंको 'भाव' नामसे कहा गया है। तात्पर्य है कि भगवान् भाव (सत्ता) रूप हैं*; अतः उनसे भाव ही उत्पन्न होगा, अभाव कैसे उत्पन्न होगा? भगवान्‌से उत्पन्न होनेके कारण सब भाव भगवान्‌के ही स्वरूप हैं—**'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः'** (गीता १०। ५)। तात्पर्य है कि शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जो भी सात्त्विक, राजस और तामस भाव, क्रिया, पदार्थ आदि ग्रहण किये जाते हैं, वे सब भगवान् ही हैं†। मनकी स्फुरणामात्र चाहे अच्छी हो या बुरी, भगवान् ही हैं। संसारमें अच्छा-बुरा, शुद्ध-अशुद्ध, शत्रु-मित्र, दुष्ट-सज्जन, पापात्मा-पुण्यात्मा आदि जो कुछ भी देखने, सुनने, कहने, सोचने, समझने आदिमें आता है, वह सब केवल भगवान् ही हैं। भगवान्‌के सिवाय कहीं कुछ भी नहीं है।

अपना कुछ स्वार्थ रखें, लेनेकी इच्छा रखें, तभी सात्त्विक, राजस और तामस—ये तीन भेद होते हैं। यदि

---

* **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'** (गीता २। १६); **'मद्भावं सोऽधिगच्छति'** (गीता १४। १९); **'सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।'** (गीता १८। २०)

† **मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।**
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥

(श्रीमद्भा० ११। १३। २४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे जो कुछ (शब्दादि विषय) ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आप विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें अर्थात् स्वीकार करके अनुभव कर लें।'
~~~~

अपना कुछ स्वार्थ न रखें और दूसरेके हितकी दृष्टि रखें तो ये भगवान्‌के ही स्वरूप हैं। इनको अपने लिये मानना, इनसे सुख लेना ही पतनका कारण है।*

'तीनों गुण मेरेसे ही प्रकट होते हैं'—ऐसा कहकर भगवान्‌ने यह भाव प्रकट किया है कि साधककी दृष्टि इन गुणोंकी तरफ न जाकर मुझ गुणातीतकी तरफ ही जानी चाहिये, अर्थात् मेरी सत्ता और महत्ता मानकर मेरे ही साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहिये, जिससे मेरी प्राप्ति हो जाय और सदाके लिये दुःख मिटकर महान् आनन्दका अनुभव हो जाय। 'मैं उनमें नहीं हूँ और वे मेरेमें नहीं हैं'—ऐसा कहकर भगवान्‌ने यह भाव प्रकट किया है कि अगर कोई मनुष्य मेरेको सत्ता और महत्ता न देकर सात्त्विक, राजस और तामस गुण, पदार्थ तथा क्रियाको सत्ता और महत्ता देकर उनके साथ सम्बन्ध जोड़ेगा तो वह मेरेको प्राप्त न होकर जन्म-मरणमें चला जायगा—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)।

'मत्त एव' पदोंका प्रयोग करके भगवान् मानो यह कहते हैं कि तीनों गुण मेरेसे ही होते हैं, फिर तुम मेरी तरफ न आकर गुणोंमें क्यों फँसते हो? जो गुणोंमें फँस जाते हैं, वे मेरा भजन नहीं कर सकते (गीता ७। १३)। परन्तु जो गुणोंमें नहीं फँसते, वे भक्त मेरा भजन करते हैं (गीता ७। १६, १०। ८)। ये गुण टिकनेवाले नहीं हैं; क्योंकि कारण टिकता है, कार्य नहीं टिकता। जैसे सोना टिकता है, गहने नहीं टिकते; मिट्टी टिकती है, घड़ा नहीं टिकता, ऐसे ही भगवान् टिकते हैं, गुण नहीं टिकते। गुण तो परिवर्तनशील और मिटनेवाले हैं, पर भगवान् नित्य-निरन्तर ज्यों-के-त्यों रहनेवाले हैं। उनका न परिवर्तन होता है, न नाश। इसलिये भगवान्‌की प्राप्ति गुणोंसे नहीं होती, प्रत्युत गुणोंके सम्बन्ध-विच्छेदसे होती है। अतः तमोगुणको रजोगुणसे और रजोगुणको सत्त्वगुणसे जीतकर गुणोंसे अतीत होना है।

यहाँ एक विशेष बात समझनेयोग्य है कि सगुण-साकार भगवान् भी वास्तवमें निर्गुण ही हैं; क्योंकि वे सत्त्व, रज और तमोगुणसे युक्त नहीं हैं, प्रत्युत ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, औदार्य आदि गुणोंसे युक्त हैं। इसलिये सगुण-साकार भगवान्‌की भक्तिको भी निर्गुण (सत्त्वादि गुणोंसे रहित) बताया गया है; जैसे—**'मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्'**, **'मन्निकेतं तु निर्गुणम्'**, **'निर्गुणो मदपाश्रयः'**, **'मत्सेवायां तु निर्गुणा'** (श्रीमद्भा० ११। २५। २४—२७)।

प्रश्न—जब सब कुछ भगवान् ही हैं, तो फिर सात्त्विक-राजस-तामस भाव त्याज्य क्यों हैं?

उत्तर—जैसे जमीनमें जल सब जगह रहता है, पर उसका प्राप्ति-स्थान कुआँ है, ऐसे ही भगवान् सब जगह हैं, पर उनका प्राप्ति-स्थान यज्ञ (कर्तव्य-कर्म) है—**'तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्'** (गीता ३। १५)। परन्तु सात्त्विक-राजस-तामस भाव भगवान्‌के प्राप्ति-स्थान नहीं हैं अर्थात् इनके द्वारा भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती (गीता ७। १३)। अतः ये साधकके लिये कामके नहीं हैं। इसलिये भगवान्‌ने कहा है कि ये भाव मेरेसे होनेपर भी मैं इनमें और ये मेरेमें नहीं हैं।

जैसे, बाजरीकी खेतीमें बाजरी ही मुख्य होती है, पत्ती-डंठल नहीं। किसानका लक्ष्य केवल बाजरीको प्राप्त करनेका ही होता है। बाजरीको प्राप्त करनेके लिये वह खेतीको जल, खाद आदिसे पुष्ट करता है, जिससे बढ़िया बाजरी प्राप्त हो सके। ऐसे ही साधकका लक्ष्य भी केवल भगवान्‌का होना चाहिये, संसारका नहीं। भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये साधकको संसारकी सेवा करनी चाहिये। सेवाके सिवाय संसारसे अपना कोई मतलब नहीं रखना चाहिये। महत्त्व बाजरी (दाने) का है, पत्ती-डंठलका नहीं; क्योंकि आरम्भमें भी बाजरी रहती है और अन्तमें भी बाजरी ही रहती है। बाजरी प्राप्त करनेके बाद जो शेष बचता है, वह (पत्ती-डंठल) बाजरीसे अलग न होनेपर भी अपने लिये किसी कामकी चीज नहीं है, प्रत्युत पशुओंके खानेकी चीज है। ऐसे ही सात्त्विक-राजस-तामस भाव मूढ़ (अविवेकी) मनुष्योंके लिये हैं। ये तीनों ही भाव मनुष्यको बाँधनेवाले हैं†। इसलिये ये भाव भगवान्‌के रूप होते हुए भी स्वयंके लिये नहीं हैं, प्रत्युत विवेकपूर्वक सांसारिक व्यवहारके लिये हैं। जैसे, जहर भी भगवान्‌का

---

* **काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।**
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ (गीता ३। ३७)

† **सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।**
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ (गीता १४। ५)

रूप है, पर वह खानेके लिये नहीं है!

जैसे बाजरी (बीज) से पत्ती-डंठल पैदा होनेपर भी पत्ती-डंठलमें बाजरी नहीं है और बाजरीमें पत्ती-डंठल नहीं है, ऐसे ही भगवान्‌से पैदा होनेपर भी सात्त्विक-राजस-तामस भावोंमें भगवान् नहीं हैं और भगवान्‌में सात्त्विक-राजस-तामस भाव नहीं हैं।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ १३॥

किन्तु—

एभिः	= इन	**इदम्**	= यह	**परम्**	= अतीत
त्रिभिः	= तीनों	**सर्वम्**	= सम्पूर्ण	**अव्ययम्**	= अविनाशी
गुणमयैः	= गुणरूप	**जगत्**	= जगत् (प्राणिमात्र)	**माम्**	= मुझे
भावैः	= भावोंसे			**न**	= नहीं
मोहितम्	= मोहित	**एभ्यः**	= इन गुणोंसे	**अभिजानाति**	= जानता।

विशेष भाव—जो मनुष्य भगवान्‌को न देखकर सात्त्विक, राजस और तामस भावोंको ही देखता है, उनका भोग करता है, उनसे सुख लेता है, वह उन भावोंसे मोहित हो जाता है अर्थात् भगवान्‌की दुरत्यय गुणमयी मायासे बँध जाता है और फलस्वरूप बार-बार जन्मता-मरता है। तात्पर्य है कि सात्त्विक, राजस और तामस भाव (कर्म, पदार्थ, काल, स्वभाव, गुण आदि) अनित्य हैं और भगवान् नित्य हैं। जो अनित्यका भोग करते हैं, वे बँध जाते हैं; परन्तु जो अनित्यका त्याग करके नित्यस्वरूप भगवान्‌का आश्रय लेते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं (गीता ७। १४)।

इस श्लोकमें जीवात्माके लिये 'जगत्' शब्द आया है। इसका तात्पर्य है कि जिसकी सत्ता विद्यमान है ही नहीं, उसको सत्ता और महत्ता देकर उससे सम्बन्ध जोड़नेसे जीव भी जगत् हो जाता है! चेतन भी (चेतनताका दुरुपयोग करके) जड़ हो जाता है! उत्कृष्ट परा प्रकृति भी निकृष्ट अपरा प्रकृति बन जाती है! जीव जगत्‌के उत्पत्ति-विनाशको अपना उत्पत्ति-विनाश, जगत्‌के लाभ-हानिको अपना लाभ-हानि मान लेता है। जैसे मनुष्य कामनाके साथ अभिन्न होकर '**कामात्मानः**' अर्थात् कामना-रूप हो जाता है (गीता २। ४३) और भगवान्‌के साथ अभिन्न होकर '**मन्मयाः**' अर्थात् भगवद्रूप हो जाता है (गीता ४। १०), ऐसे ही जीव जगत्‌के साथ अभिन्न होकर जगत्-रूप हो जाता है। फर्क यही है कि भगवद्रूपसे वह नित्य है, पर कामनारूप या जगत्-रूपसे वह अनित्य है।

जीवने भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ताको माना, सत्ता मानकर उसको महत्त्व दिया, महत्त्व देकर उससे सम्बन्ध जोड़ा और सम्बन्ध जोड़कर अपनी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव कर लिया, इसलिये वह 'जगत्' बन गया! जो केवल जगत्‌की सत्ताको मानता है, वह अपनी सत्तासे विमुख होकर जगत् हो जाता है, जो अवास्तविक है और जो केवल भगवान्‌की सत्ताको मानता है, वह अपनी स्वतन्त्र सत्ताकी मान्यताको मिटाकर भगवान् हो जाता है—'**मम साधर्म्यमागताः**' (गीता १४। २), जो वास्तविक है।

जीवको 'जगत्' कहनेका तात्पर्य है कि उसका चेतनताकी तरफ ख्याल ही नहीं रहा, प्रत्युत जड़ शरीरको ही 'मैं' (अपना स्वरूप) और 'मेरा' मानने लग गया। जीव स्वरूपसे निर्गुण तथा अव्यय होनेपर भी 'जगत्' हो जानेके कारण सात्त्विक-राजस-तामस गुणोंसे बँध जाता है—'**निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्**' (गीता १४। ५)। वास्तवमें अलौकिक परमात्माका अंश होनेसे जीव भी अलौकिक ही है*, पर लौकिक जगत्‌को पकड़नेसे वह

* **अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।**
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ (गीता १३। ३१)

भी लौकिक हो जाता है! अहम्‌से लेकर पृथ्वीतक सब अपरा प्रकृति है (गीता ७। ४)। अतः जैसे पृथ्वी जड़ है, ऐसे ही अहम् भी जड़ है। जब जीव अहम्‌को दृढ़तासे पकड़कर '**अहङ्कारविमूढात्मा**' हो जाता है अर्थात् अहम्‌को अपना स्वरूप मान लेता है, तब उसका पतन होते-होते वह भी जड़ जगत् ही बन जाता है अर्थात् उसका चेतनपना लुप्त (विस्मृत) हो जाता है, उसको चेतनपनेका अनुभव नहीं होता।

जो गुणोंमें आसक्त नहीं होते, उनके सामने जड़ता रहती ही नहीं, इसलिये उनको सब जगह भगवान्-ही-भगवान् दीखते हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९)। परन्तु जो गुणोंमें आसक्त होते हैं, उनको भगवान् दीखते ही नहीं, प्रत्युत संसार-ही-संसार दीखता है, इसलिये वे भगवान्‌को भी संसारी ही देखते हैं! वे गुणोंसे अतीत भगवान्‌को भी गुणोंसे बँधे हुए देखते हैं, अविनाशी भगवान्‌को भी जन्मने-मरनेवाला देखते हैं (गीता ७। २४)। भक्तकी दृष्टि तो भगवान्‌को छोड़कर दूसरी तरफ नहीं जाती, पर गुणोंमें आसक्त संसारी लोगोंकी दृष्टि संसारको छोड़कर दूसरी तरफ नहीं जाती। इसलिये भक्तको आनन्द-ही-आनन्द प्राप्त होता है और संसारी मनुष्यको दुःख-ही-दुःख—'**दुःखालयम्**' (गीता ८। १५)।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ १४॥

हि	= क्योंकि	**दुरत्यया**	= दुरत्यय है अर्थात् इससे पार पाना बड़ा कठिन है।	**एव**	= ही
मम	= मेरी			**प्रपद्यन्ते**	= शरण होते हैं,
एषा	= यह			**ते**	= वे
गुणमयी	= गुणमयी			**एताम्**	= इस
दैवी	= दैवी	**ये**	= जो	**मायाम्**	= मायाको
माया	= माया	**माम्**	= केवल मेरे	**तरन्ति**	= तर जाते हैं।

विशेष भाव—जब मनुष्य संसारसे विमुख होकर भगवान्‌की शरणागति स्वीकार कर लेता है, तब वह माया (अपरा प्रकृतिके कार्य) को तर जाता है अर्थात् उसके अहम्‌का सर्वथा नाश हो जाता है। भगवान्‌की शरणागति स्वीकार करनेका तात्पर्य है—भगवान्‌की सत्तामें ही अपनी सत्ता मिला दे अर्थात् केवल भगवान्‌की ही सत्ताको स्वीकार कर ले। न अपनी स्वतन्त्र सत्ता माने, न मायाकी स्वतन्त्र सत्ता माने। न अहम्‌का आश्रय ले, न माया (गुणों) का आश्रय ले। इसमें कोई परिश्रम, उद्योग नहीं है।

मायाको सत्ता मनुष्यने ही दी है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५), '**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति**' (गीता १५। ७)। अगर वह मायाको सत्ता न देकर केवल भगवान्‌की ही शरणमें रहता तो वह मायाको तर जाता अर्थात् उसके लिये मायाकी सत्ता रहती ही नहीं।

जीव जड़ताका आश्रय लेनेसे अर्थात् उसको अपना एवं अपने लिये माननेसे जड़तामें चला जाता है और जगत् बन जाता है (गीता ७। १३)। परन्तु भगवान्‌का आश्रय लेनेसे वह स्वतःसिद्ध चिन्मयतामें चला जाता है और भक्त हो जाता है। भक्त होनेपर जगत् लुप्त हो जाता है अर्थात् जगत् जगत्-रूपसे नहीं रहता, प्रत्युत भगवत्स्वरूप हो जाता है, जो वास्तवमें है।

'**मामेव**' पदसे भगवान्‌का तात्पर्य है कि जीव मेरा ही **(मम एव)** अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७); अतः मेरे ही **(माम् एव)** शरण होनेसे वह मायाको तर जाता है। इसलिये मेरी शरण लेनेवाले भक्तोंका मेरे सिवाय अन्य किसीसे सम्बन्ध होता ही नहीं, होना सम्भव ही नहीं; क्योंकि उनकी दृष्टिमें मेरे (भगवान्‌के) सिवाय अन्य कोई होता ही नहीं। न तो उनकी दृष्टि दूसरेमें जाती है और न दूसरा उनकी दृष्टिमें आता है। उनकी दृष्टिमें अपरा प्रकृतिकी न तो सत्ता रहती है, न महत्ता रहती है और न अपनापन ही रहता है। उनकी केवल भगवद्‌बुद्धि

हो जाती है, जो वास्तवमें भगवत्स्वरूप ही है।

जिनमें विवेककी प्रधानता है, ऐसे भक्त अहम्‌का आश्रय छोड़कर अर्थात् संसारका त्याग करके भगवान्‌के आश्रित होते हैं। परन्तु जिनमें विवेककी प्रधानता नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌में श्रद्धा-विश्वासकी प्रधानता है, ऐसे सीधे-सरल भक्त अहम्‌के साथ (जैसे हैं, वैसे ही) भगवान्‌के आश्रित हो जाते हैं। ऐसे भक्तोंके अहम्‌का नाश भगवान् स्वयं करते हैं (गीता १०। ११)।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ १५॥

परन्तु—

मायया	= मायाके द्वारा	**भावम्**	= भावका	**दुष्कृतिनः**	= पाप-कर्म करनेवाले
अपहृतज्ञानाः	= जिनका ज्ञान हरा गया है, (वे)	**आश्रिताः**	= आश्रय लेनेवाले (और)	**मूढाः**	= मूढ़ मनुष्य
आसुरम्	= आसुर	**नराधमाः**	= मनुष्योंमें महान् नीच (तथा)	**माम्**	= मेरे
				न, प्रपद्यन्ते	= शरण नहीं होते।

विशेष भाव—जो मनुष्य भगवान्‌का आश्रय नहीं लेते, वे आसुरी, राक्षसी और मोहिनी प्रकृतिका आश्रय लेनेवाले होते हैं (गीता ९। १२)। उनकी दृष्टि संसार (पदार्थ और क्रिया) को छोड़कर दूसरी तरफ जाती ही नहीं। उनकी दृष्टिमें भगवान्‌की सत्ता ही नहीं होती, फिर भगवान्‌की शरण लेनेका प्रश्न ही नहीं उठता! भोग भोगना और संग्रह करना ही उनका अन्तिम लक्ष्य होता है—'**कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः**' (गीता १६। ११)। उनका ज्ञान मायाके द्वारा अपहृत होनेसे वे मायाके वशमें होते हैं। मायाके वशमें होनेसे वे मायाको तर ही नहीं सकते।

'**माययापहृतज्ञानाः**' पदका तात्पर्य है कि मायाके कारण उन मनुष्योंकी विवेकशक्ति तिरस्कृत हो गयी है। वे मनुष्य मायामें ही रचे-पचे रहते हैं अर्थात् भोग भोगने और संग्रह करने, शरीरको सजाने, मकानकी सजावट करने आदिमें ही लगे रहते हैं। वे शरीरको सुख-आराम देनेवाली वस्तुओंका ही नया-नया आविष्कार करते रहते हैं और उसीको विशेष महत्त्व देते हैं। ऐसे अनित्य, परिवर्तनशील वस्तुओंको ही जाननेवाले लोग नित्य, अपरिवर्तनशील तत्त्वको कैसे जानें? क्योंकि उधर उनकी दृष्टि जाती ही नहीं, जा सकती ही नहीं।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ १६॥

भरतर्षभ, अर्जुन	= हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!	**आर्तः**	= आर्त,	**चतुर्विधाः**	= चार प्रकारके
सुकृतिनः	= पवित्र कर्म करनेवाले	**जिज्ञासुः**	= जिज्ञासु	**जनाः**	= मनुष्य
अर्थार्थी	= अर्थार्थी,	**च**	= और	**माम्**	= मेरा
		ज्ञानी	= ज्ञानी अर्थात् प्रेमी—(ये)	**भजन्ते**	= भजन करते हैं अर्थात् मेरे शरण होते हैं।

विशेष भाव—चौदहवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा था कि मेरी शरण लेनेवाले भक्त गुणमयी मायाको तर जाते

हैं। वे शरण लेनेवाले भक्त कौन हैं—इसको अब इस श्लोकमें बताते हैं।

पूर्व श्लोकमें 'दुष्कृती' मनुष्योंकी और इस श्लोकमें 'सुकृती' मनुष्योंकी बात आयी है। जो हमारेसे अलग है, उस संसारको अपना मानना सबसे बड़ा दुष्कृत अर्थात् पाप है और जो हमारेसे अभिन्न हैं, उन भगवान्‌को अपना मानना सबसे बड़ा सुकृत अर्थात् पुण्य है। अत: जो संसारको अपना मानते हैं, वे दुष्कृती हैं और जो भगवान्‌को अपना मानते हैं, वे सुकृती हैं।

भोगी मनुष्य भगवान्‌में नहीं लगता, इसलिये 'अर्थार्थी' तो भगवान्‌का भक्त हो सकता है, पर 'भोगार्थी' भगवान्‌का भक्त नहीं हो सकता। कारण कि भोगार्थीमें संसारकी लिप्तता अधिक होती है और अर्थार्थीमें लिप्तता कम होती है तथा भगवान्‌की मुख्यता होती है।

कुछ अंशमें भगवान्‌के सिवाय अन्य सत्ताकी मान्यता होनेके कारण ही भक्त अर्थार्थी, आर्त अथवा जिज्ञासु होता है। अगर अन्य सत्ताकी मान्यता सर्वथा न हो तो वह ज्ञानी (प्रेमी) हो जाता है। तात्पर्य है कि भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता माननेसे ही ये चार भेद होते हैं। वास्तवमें एक भगवान्‌की सत्ताके सिवाय दूसरी सत्ता सम्भव ही नहीं है।

जो विज्ञानसहित ज्ञानको अर्थात् परमात्माके समग्ररूपको जानना चाहता है, वह 'जिज्ञासु' है। जिज्ञासु भगवान्‌के ऐश्वर्य, प्रभाव, सामर्थ्यको जानना चाहता है, इसलिये भगवान्‌की लीला-कथामें उसको विशेष रस आता है। भगवान्‌ने 'मुमुक्षु' पद न देकर 'जिज्ञासु' पद दिया है; क्योंकि मुमुक्षु तो केवल तत्त्वज्ञान चाहनेवाला ही हो सकता है, पर 'जिज्ञासु' ज्ञान चाहनेवाला भी हो सकता है और भक्ति चाहनेवाला भी। मुमुक्षुमें अपने कल्याणकी बात मुख्य होती है और जिज्ञासु भक्तमें अपनेको भगवान्‌के अर्पित करनेकी बात मुख्य होती है। मुमुक्षुको ब्रह्मका ज्ञान होता है और जिज्ञासु भक्तको '**वासुदेवः सर्वम्**' का ज्ञान होता है। तत्त्वज्ञानीको तो ब्रह्मका ज्ञान होता है, पर भक्तको समग्रका ज्ञान होता है (गीता ७। २९-३०)।

अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासुमें क्रमशः संसारका सम्बन्ध घटता जाता है और परमात्माका सम्बन्ध बढ़ता जाता है। जबतक जीव जगत्‌को धारण किये रहता है, तभीतक अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु रहते हैं। जब वह जगत्‌को धारण नहीं करता, तब केवल 'ज्ञानी' रहता है।

जिस भक्तको 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार परमात्माके समग्ररूपका ज्ञान हो गया है, उसको यहाँ '**ज्ञानी**' कहा गया है। इसी ज्ञानी भक्तको आगे उन्नीसवें श्लोकमें '**ज्ञानवान्**' कहा गया है।

'अर्थार्थी' प्राप्त परिस्थितिमें सन्तोष न करके धन चाहता है। 'आर्त' प्राप्त परिस्थितिमें सन्तोष तो करता है, पर दुःख आनेपर उससे दुःख सहा नहीं जाता। 'अर्थार्थी' में अर्थकी मुख्यता नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌की मुख्यता है। उसमें धनकी इच्छा तो रहती है, पर उस इच्छाको वह केवल भगवान्‌से ही पूरी कराना चाहता है। कारण कि भगवान्‌में कोई कमी नहीं है। अपरा प्रकृति है तो भगवान्‌की ही! 'आर्त' भी अपना दुःख केवल भगवान्‌से ही दूर करना चाहता है। 'जिज्ञासु' भी केवल भगवान्‌से ही अपनी जिज्ञासाकी पूर्ति करना चाहता है। परन्तु जब भक्तमें ऐसी उत्कट अभिलाषा रहती है कि 'मेरेको केवल भगवान् ही प्यारे लगें', तब उसमें अर्थार्थीपना, आर्तपना और जिज्ञासुपना नहीं रहता और वह ज्ञानी अर्थात् प्रेमी हो जाता है।

'अर्थार्थी' का तो अर्थसे निरन्तर सम्बन्ध रहता है; क्योंकि अर्थकी वासना हरदम रहती है। परन्तु 'आर्त' का दुःखसे निरन्तर सम्बन्ध नहीं रहता; क्योंकि दुःख हरदम नहीं रहता। 'जिज्ञासु' को सुख-दुःखकी परवाह नहीं होती; अत: वह न तो सुखके आनेकी इच्छा करता है और न दुःखके जानेकी इच्छा करता है। अर्थार्थी और आर्त—दोनों जिज्ञासु होकर ज्ञानी हो जाते हैं।

'अर्थार्थी' भक्तको जब अर्थ मिलता है, तब उसको अपनी भूलपर पश्चात्ताप होता है; जैसे—ध्रुवजीको राज्य मिलनेपर पश्चात्ताप हुआ। परन्तु 'आर्त' भक्तको उतना पश्चात्ताप नहीं होता, प्रत्युत उसमें यह भाव रहता है कि भगवान् दुःख दूर करनेवाले हैं; जैसे—द्रौपदी और गजेन्द्रकी रक्षा होनेपर उनको पश्चात्ताप नहीं हुआ, प्रत्युत भगवान्‌की तरफ ही उनकी वृत्ति रही। 'आर्त' भक्त आये हुए दुःखको सह नहीं सकता—यह उसकी कमजोरी है।

'जिज्ञासु' भक्तमें भगवान्‌के समग्ररूपको जाननेकी कमी रहती है। उसको मुक्ति, तत्त्वज्ञान होनेपर भी सन्तोष

नहीं होता, प्रत्युत उसमें प्रेम प्राप्त करनेकी भूख रहती है। परन्तु 'ज्ञानी' भक्तकी दृष्टिमें एक वासुदेवके सिवाय अन्य सत्ता लेशमात्र भी नहीं होती, फिर उसमें कोई कमी कैसे रह सकती है? इसलिये भगवान्‌ने ज्ञानी भक्तको अपना स्वरूप बताया है—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** (गीता ७। १८)।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ १७॥

तेषाम्	=उन चार भक्तोंमें	**विशिष्यते**	=श्रेष्ठ है;	**प्रियः**	=प्रिय हूँ
नित्ययुक्तः	=मुझमें निरन्तर लगा हुआ	**हि**	=क्योंकि	**च**	=और
		ज्ञानिनः	=ज्ञानी भक्तको	**सः**	=वह
एकभक्तिः	=अनन्य भक्तिवाला	**अहम्**	=मैं	**मम**	=मुझे
ज्ञानी	=ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्त	**अत्यर्थम्**	=अत्यन्त	**प्रियः**	=(अत्यन्त) प्रिय है।

विशेष भाव—भगवान्‌ने अपने प्रेमी भक्तको 'ज्ञानी' नामसे इसलिये कहा है कि 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—यही वास्तविक और अन्तिम ज्ञान है, इससे आगे कुछ नहीं है। इसलिये ऐसा अनुभव करनेवाला प्रेमी भक्त ही वास्तविक ज्ञानी है (गीता ७। १९)। कारण कि ऐसे भक्तकी दृष्टिमें एक परमात्माके सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं, जबकि विवेकी पुरुषकी दृष्टिमें सत् और असत्—दो सत्ता रहती है। तात्पर्य है कि यहाँ 'ज्ञानी' शब्द जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानीके लिये नहीं आया है, प्रत्युत **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव करनेवाले ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्तके लिये आया है। गीतामें भगवान्‌ने मुख्य रूपसे भक्तको ही 'ज्ञानी' कहा है (७। १६—१८); क्योंकि वही अन्तिम और असली ज्ञानी है। उसका केवल भगवान्‌में ही प्रेम होता है, इसलिये वह श्रेष्ठ है—**'एकभक्तिर्विशिष्यते'।**

भगवान्‌का अर्थार्थी भक्त अनित्ययुक्त (निरन्तर भगवान्‌में न लगा हुआ) होता है। अर्थार्थीकी अपेक्षा आर्त कम अनित्ययुक्त होता है। आर्तकी अपेक्षा भी जिज्ञासु कम अनित्ययुक्त होता है। परन्तु ज्ञानी सर्वथा नित्ययुक्त होता है।

'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' पदोंका तात्पर्य है कि **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव होनेपर फिर भक्त और भगवान्—दोनोंमें परस्पर प्रेम-ही-प्रेम शेष रहता है। इसीको शास्त्रोंमें प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम, अनन्तरस आदि नामोंसे कहा गया है।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ १८॥

एते	=पहले कहे हुए	**आत्मा**	=स्वरूप	**अनुत्तमाम्,**	
सर्वे, एव	=सब-के-सब (चारों) ही भक्त	**एव**	=ही है—	**गतिम्**	=जिससे श्रेष्ठ दूसरी कोई गति नहीं है, (ऐसे)
		मतम्	=(ऐसा मेरा) मत है।		
उदाराः	=बड़े उदार (श्रेष्ठ भाववाले) हैं।	**हि**	=कारण कि		
तु	=परन्तु	**सः**	=वह	**माम्**	=मुझमें
ज्ञानी	=ज्ञानी (प्रेमी) तो	**युक्तात्मा**	=मुझसे अभिन्न है (और)	**एव**	=ही
मे	=मेरा			**आस्थितः**	=दृढ़ स्थित है।

विशेष भाव—सांसारिक अर्थार्थी भगवान्‌को छोड़कर केवल अर्थको ही चाहता है; अतः वह झूठ, कपट, बेईमानी आदिका भक्त होता है। उसके भीतर धनका महत्त्व ज्यादा होनेसे वह उदार नहीं होता, प्रत्युत महान् कृपण होता है। अतः उसके लिये 'उदार' शब्द लागू ही नहीं होता। परन्तु जो अर्थार्थी भगवान्‌का भक्त होता है, उसके भीतर अर्थका महत्त्व न होकर भगवान्‌का महत्त्व होता है। इसलिये उसमें कृपणता नहीं होती, प्रत्युत उदारता होती है। अतः उसको भगवान्‌ने यहाँ उदार कहा है। यहाँ उदारभावका अर्थ है—त्याग। अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु भक्त संसार (भोग और संग्रह) को छोड़कर भगवान्‌में लग गये—यह उनका त्याग है। इसलिये वे सभी उदार हैं—'**उदाराः सर्व एवैते।**' एकमात्र भगवान्‌का सम्बन्ध मुख्य होनेसे अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु भी आगे चलकर स्वतः 'ज्ञानी' हो जाते हैं।

एक मार्मिक बात है कि भगवान्‌को न मानना कामनासे भी अधिक दोषी है। जो भगवान्‌को छोड़कर अन्य देवताओंकी उपासना करते हैं, उनमें यदि कामना रह जाय तो वे जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं—'**गतागतं कामकामा लभन्ते**' (गीता ९। २१)। परन्तु जो केवल भगवान्‌का ही भजन करते हैं, उनमें यदि कामना रह भी जाय तो भगवान्‌की कृपा और भजनके प्रभावसे वे भगवान्‌को ही प्राप्त होते हैं। कारण कि मनुष्यका किसी भी तरहसे भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जुड़ जाय तो वह भगवान्‌को ही प्राप्त होता है*; क्योंकि वह मूलमें भगवान्‌का ही अंश है।

अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु—इन तीनोंको ही भगवान्‌ने यहाँ 'उदार' कहा है। परन्तु जो भगवान्‌के सिवाय अन्यका भजन करनेवाले हैं, उनको भगवान्‌ने उदार न कहकर 'अल्पमेधा' कहा है (गीता ७। २३) और उनके भजनको अविधिपूर्वक किया गया बताया है (गीता ९। २३)। देवताओंको भगवान्‌से अलग समझनेके कारण अर्थात् देवताओंमें भगवद्बुद्धि न होनेके कारण तथा कामना भी होनेके कारण उनकी उपासना अविधिपूर्वक है। तात्पर्य है कि सबमें भगवद्बुद्धि न होना सकामभावसे भी अधिक घातक है; क्योंकि चेतनके साथ सम्बन्ध नहीं हुआ!

तत्त्वज्ञानीकी ब्रह्मसे 'तात्त्विक एकता' अर्थात् सधर्मता होती है; परन्तु भक्तकी भगवान्‌के साथ 'आत्मीय एकता' होती है—'**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**'। तत्त्वज्ञानीकी तात्त्विक एकता (सधर्मता) में जीव और ब्रह्ममें अभेद हो जाता है अर्थात् जैसे ब्रह्म सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है, ऐसे वह भी सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हो जाता है और एक तत्त्वके सिवाय कुछ नहीं रहता। परन्तु भक्तकी आत्मीय एकतामें जीव और भगवान्‌में अभिन्नता हो जाती है। अभिन्नतामें भक्त और भगवान् एक होते हुए भी प्रेमके लिये दो हो जाते हैं। उनमें दोनों ही प्रेमी और दोनों ही प्रेमास्पद होते हैं। इसलिये वे दो होते हुए भी एक ही रहते हैं।

जीव परमात्माका अंश है। अतः वह परमात्मासे जितना-जितना दूर जाता है, उतना-उतना अहंकार दृढ़ होता जाता है और वह ज्यों-ज्यों परमात्माकी तरफ आता है, त्यों-त्यों अहंकार मिटता जाता है। स्वरूपमें स्थित होनेपर भी सूक्ष्म अहम्‌की गन्ध रह सकती है। परन्तु प्रेममें परमात्माके साथ अभिन्नता (आत्मीयता) होनेपर जीवका अपरा प्रकृतिसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और अहंकार सर्वथा मिट जाता है; क्योंकि अहंकार अपरा प्रकृतिका ही कार्य है। इसलिये भगवान्‌ने कहा है—'**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।**'

अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासुमें क्रमशः अपनी स्वतन्त्र सत्ता (अहंता) कम होती जाती है और ज्ञानीमें अपनी स्वतन्त्र सत्ता बिलकुल नहीं रहती। इसलिये '**त्वात्मैव**' पदका तात्पर्य है कि प्रेमी भक्तकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रही, प्रत्युत केवल भगवान् ही रहे अर्थात् प्रेमीके रूपमें साक्षात् भगवान् ही हैं—'**तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्**' (नारद० ४१)। यह आत्मीयता भक्तिके लिये स्वीकृत द्वैत है, जो ज्ञानयोगके अद्वैतसे भी सुन्दर है—'**भक्त्यर्थं कल्पितं (स्वीकृतं) द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्**'† (बोधसार, भक्ति० ४२)।

---

* **कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहाद् यथा भक्त्येश्वरे मनः।**
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥ (श्रीमद्भा० ७। १। २९)

'एक नहीं, अनेक मनुष्य कामसे, द्वेषसे, भयसे और स्नेहसे अपने मनको भगवान्‌में लगाकर तथा अपने सारे पाप धोकर वैसे ही भगवान्‌को प्राप्त हुए हैं, जैसे भक्त भक्तिसे।'

† भक्तिका यह अद्वैत कल्पना नहीं है, प्रत्युत स्वीकृति है। कल्पित अद्वैत तो असत्य होता है, उसमें प्रेम नहीं होता।

'मामेवानुत्तमां गतिम्'—भगवान्‌से बढ़कर उत्तम गति और कोई नहीं है। 'गति' शब्दके तीन अर्थ होते हैं—ज्ञान, गमन और प्राप्ति। यहाँ 'गति' शब्द प्राप्तिके अर्थमें आया है। अन्तिम प्रापणीय तत्त्व होनेसे भगवान् सर्वोत्तम गति हैं।

'आस्थितः'—एक दृढ़ता अभ्याससे होती है और एक दृढ़ता स्वतः होती है। जैसे मात्र प्राणियोंकी 'मैं हूँ'—इस प्रकार अपने-आपमें स्वतः दृढ़ स्थिति होती है, ऐसे ही ज्ञानी भक्तकी भगवान्‌में स्वतः दृढ़ स्थिति होती है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ १९॥

बहूनाम्	=बहुत	**सर्वम्**	='सब कुछ	**माम्**	=मेरे
जन्मनाम्	=जन्मोंके	**वासुदेवः**	=परमात्मा ही हैं'—	**प्रपद्यते**	=शरण होता है,
अन्ते	=अन्तिम जन्ममें अर्थात् मनुष्यजन्ममें	**इति**	=इस प्रकार	**सः**	=वह
		ज्ञानवान्	=(जो) ज्ञानवान्	**महात्मा**	=महात्मा
				सुदुर्लभः	=अत्यन्त दुर्लभ है।

विशेष भाव—सोलहवें श्लोकमें भगवान्‌ने अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—इन चार प्रकारके भक्तोंद्वारा अपना भजन करनेकी बात कही थी—**'चतुर्विधा भजन्ते माम्'**। उनमें ज्ञानीके भजनका क्या स्वरूप है—इसको इस श्लोकमें बताते हैं कि 'सब कुछ वासुदेव ही है'—ऐसा अनुभव करना ही ज्ञानीका भजन है, शरणागति है। असली शरणागति वही है, जिसमें शरणागतकी सत्ता ही न रहे, प्रत्युत शरण्य ही रह जाय।

सब कुछ भगवान् ही हैं—यह वास्तविक ज्ञान है। ऐसे वास्तविक ज्ञानवाला महात्मा भक्त भगवान्‌के शरण हो जाता है अर्थात् अपना अस्तित्व (मैंपन) मिटाकर भगवान्‌में लीन हो जाता है। फिर मैंपन नहीं रहता अर्थात् प्रेमवाला नहीं रहता, प्रत्युत केवल प्रेमस्वरूप भगवान् रह जाते हैं, जिनमें मैं-तू-यह-वह चारों ही नहीं हैं। यही शरणागतिका वास्तविक स्वरूप है।

'महात्मा' शब्दका अर्थ है—महान् आत्मा अर्थात् अहंभाव, व्यक्तित्व, एकदेशीयतासे सर्वथा रहित आत्मा*। जिसमें अहंभाव, व्यक्तित्व, एकदेशीयता है, वह 'अल्पात्मा' है।

यहाँ **'वासुदेवः'** पद पुँल्लिङ्गमें आया है; अतः यहाँ **'वासुदेवः सर्वः'** पद आने चाहिये थे। परन्तु यहाँ **'सर्वः'** पद न देकर **'सर्वम्'** पद दिया गया है, जो नपुंसकलिङ्गमें है। अगर तीनों लिङ्गों **(सर्वः, सर्वा और सर्वम्)** का एकशेष किया जाय तो नपुंसकलिङ्ग **(सर्वम्)** ही एकशेष रहता है। नपुंसकलिङ्गके अन्तर्गत तीनों लिङ्ग आ जाते हैं। अतः **'सर्वम्'** पदमें स्त्री, पुरुष और नपुंसक—सबका समाहार हो जाता है। गीतामें जगत्, जीव और परमात्मा—इन तीनोंके लिये पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग—इन तीनों ही लिङ्गोंका प्रयोग हुआ है†। इससे यह तात्पर्य

* गीतामें भगवान्‌ने 'महात्मा' शब्दका प्रयोग केवल भक्तके लिये ही किया है। जो भक्तिमार्गपर चलते हैं, उन साधकोंको भी महात्मा कहा है—**'महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः'** (९। १३), जो भगवान्‌से अभिन्न हो गये हैं, उनको भी महात्मा कहा है—**'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः'** (७। १९), और जो परमसिद्धि (परमप्रेम) को प्राप्त हो चुके हैं, उनको भी महात्मा कहा है—**'नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः'** (८। १५)। इसी तरह गीतामें भगवान्‌ने **'सुकृतिनः'** (७।१६), **'उदाराः'** (७। १८), **'सुदुर्लभः'** (७। १९), **'युक्ततमः'** (६। ४७; १२। २), **'अद्वेष्टा'**, **'मैत्रः'**, **'करुणः'** (१२। १३), **'अतीव मे प्रियाः'** (१२। २०) आदि पदोंका प्रयोग भी केवल भक्तके लिये ही किया है।

† द्रष्टव्य—'गीता-दर्पण' ग्रन्थमें लेख-संख्या ९९— 'गीतामें ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृतिकी अलिङ्गता'।

निकलता है कि जगत्, जीव और परमात्मा—ये तीनों ही '**सर्वम्**' शब्दके अन्तर्गत हैं। अतः तीनों लिङ्गोंसे कही जानेवाली सब-की-सब वस्तुएँ, व्यक्ति, परिस्थितियाँ आदि परमात्मा ही हैं।

'**वासुदेवः सर्वम्**'—इसमें '**सर्वम्**' तो असत् है और '**वासुदेवः**' सत् है। असत्का भाव विद्यमान नहीं है और सत्का अभाव विद्यमान नहीं है—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)। तात्पर्य है कि सत्-ही-सत् है, असत् है ही नहीं। वासुदेव-ही-वासुदेव है, '**सर्वम्**' है ही नहीं। परन्तु कहने, सुनने, पढ़नेवाले साधकोंकी दृष्टिमें '**सर्वम्**' (संसार) रहता है, इसलिये भगवान् '**सर्वम्**' की धारणा मिटानेके लिये '**वासुदेवः सर्वम्**' कहते हैं।

कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी, लययोगी, हठयोगी, राजयोगी, मन्त्रयोगी, अनासक्तयोगी आदि अनेक तरहके योगी हैं, जिनका शास्त्रोंमें वर्णन हुआ है, पर उनको भगवान् अत्यन्त दुर्लभ नहीं बताते हैं, प्रत्युत 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इसका अनुभव करनेवाले महात्माको ही अत्यन्त दुर्लभ बताते हैं।

भगवान् सम्पूर्ण संसारके बीज हैं—'**यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन**' (गीता १०। ३९), '**बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्**' (गीता ७। १०)। बीजसे जितनी चीजें पैदा होती हैं, वे सब बीजरूप ही होती हैं। जैसे, गेहूँसे पैदा होनेवाली खेतीको भी गेहूँ ही कहते हैं। किसानलोग कहते हैं कि गेहूँकी खेती बहुत अच्छी हुई है! देखो, खेतमें गेहूँ खड़े हैं, गेहूँसे खेत भरा है! परन्तु कोई शहरमें रहनेवाला व्यापारी हो, वह उसको गेहूँ कैसे मान लेगा? वह कहेगा कि मैंने बोरे-के-बोरे गेहूँ खरीदा और बेचा है, क्या मैं नहीं जानता कि गेहूँ कैसा होता है? यह तो घास है, डंठल और पत्ती है, यह गेहूँ नहीं है। परन्तु खेती करनेवाला जानकार आदमी तो यही कहेगा कि यह वह घास नहीं है, जो पशु खाया करते हैं; यह तो गेहूँ है। खेतीको गाय खा जाती है तो कहते हैं कि तुम्हारी गाय हमारा गेहूँ खा गयी, जबकि उसने गेहूँका एक दाना भी नहीं खाया। खेतमें भले ही गेहूँका एक दाना भी न दीखे, पर यह गेहूँ है—इसमें सन्देह नहीं होता। कारण कि यह पहले भी गेहूँ ही था, अन्तमें भी गेहूँ रहेगा; अतः बीचमें खेतीरूपसे अलग दीखते हुए भी गेहूँ ही है। अभी तो यह हरी-हरी घास दीखती है, पर बादमें पकनेपर इससे गेहूँ ही निकलेगा। इसी तरह संसारके पहले भी परमात्मा थे—'**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्**' (छान्दोग्य० ६। २। १), अन्तमें भी परमात्मा ही रहेंगे—'**शिष्यते शेषसंज्ञः**' (श्रीमद्भा० १०। ३। २५)। अतः बीचमें भी सब कुछ परमात्मा ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**'।

जबतक साधकमें अहम् है, तबतक वह भोगी है। मैं योगी हूँ—यह योगका भोग है, मैं ज्ञानी हूँ—यह ज्ञानका भोग है, मैं प्रेमी हूँ—यह प्रेमका भोग है। जबतक साधकमें भोग रहता है, तबतक उसके पतनकी सम्भावना रहती है। जो योगका भोगी है, वह कभी विषयोंका भोगी भी हो सकता है; जो ज्ञानका भोगी है, वह कभी अज्ञानका भोगी भी हो सकता है और जो प्रेमका भोगी है, वह कभी रागका भोगी भी हो सकता है। कारण कि उसमें पहलेसे भोगकी प्रवृत्ति, आदत रही है। जब भोगी नहीं रहता, तब केवल योग रहता है। योग रहनेपर मनुष्य मुक्त हो जाता है। परन्तु मुक्त होनेपर भी महापुरुषने जिस साधनसे मुक्ति प्राप्त की है, उस साधनका एक संस्कार (अहम्की सूक्ष्म गन्ध) रह जाता है, जो दूसरे दार्शनिकोंके साथ एकता नहीं होने देता। इस संस्कारके कारण ही दार्शनिकोंमें और उनके दर्शनोंमें मतभेद रहता है। अपने मतका संस्कार दूसरे दार्शनिकोंके मतोंका समान आदर नहीं करने देता। परन्तु प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी प्राप्ति होनेपर अपने मतका संस्कार भी नहीं रहता और सबके साथ एकता हो जाती है अर्थात् सम्पूर्ण मतभेद मिट जाते हैं और '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव हो जाता है। वास्तवमें '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव करनेवाला, इसको जाननेवाला, कहनेवाला भी नहीं रहता, प्रत्युत एक वासुदेव ही रहता है, जो अनादिकालसे ज्यों-का-त्यों है। सबमें परमात्माको देखनेसे सम्पूर्ण मतोंमें समान आदरभाव हो जाता है; क्योंकि अपने इष्ट परमात्मासे विरोध सम्भव ही नहीं है—***'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध'*** (मानस, उत्तर० ११२ ख)।

ईश्वर और जीवके विषयमें दो तरहका वर्णन है—(१) ईश्वर समुद्र है और जीव उसकी तरंग है अर्थात् तरंग समुद्रकी है और (२) जीव (स्वरूप) समुद्र है और ईश्वर उसकी तरंग है अर्थात् समुद्र तरंगका है। इन दोनोंमें तरंग समुद्रकी है—ऐसा मानना ही ठीक दीखता है। समुद्र तरंगका है—ऐसा मानना ठीक नहीं दीखता; क्योंकि समुद्र अपेक्षाकृत नित्य है और तरंग अनित्य (क्षणभंगुर) है। अतः तरंग समुद्रकी होती है, समुद्र तरंगका नहीं

होता। अगर अपनेको समुद्र और ईश्वरको तरंग मानें तो इस मान्यतासे अनर्थ होगा; क्योंकि ऐसा माननेसे अभिमान पैदा हो जायगा तथा अहम् (चिज्जड़ग्रन्थि) तो नित्य रहेगा और ईश्वर अनित्य हो जायगा! कारण कि जीवमें अनादिकालसे अहम् (व्यक्तित्व) का अभ्यास पड़ा हुआ है। अतः जहाँ स्वरूपको अहम् कहेंगे, वहाँ वही अहम् आयेगा, जो अनादिकालसे है। उस अहम्के मिटनेसे ही मुक्ति होती है। उपर्युक्त दोनों बातोंके सिवाय तीसरी एक विलक्षण बात है कि जल-तत्त्वमें न समुद्र है, न तरंग है अर्थात् वहाँ समुद्र और तरंगका भेद नहीं है। यही वास्तविक बात है। समुद्र और तरंग तो सापेक्ष हैं, पर जल-तत्त्व निरपेक्ष है।

जैसे जल-तत्त्वमें समुद्र, नदी, वर्षा, ओस, कोहरा, भाप, बादल आदि सब मिटकर एक हो जाते हैं, ऐसे ही '**वासुदेवः सर्वम्**' में सभी साधन, योगमार्ग मिटकर एक (वासुदेवरूप) हो जाते हैं। जैसे जल-तत्त्वमें कोई भेद नहीं है, ऐसे ही '**वासुदेवः सर्वम्**' में कोई भेद नहीं है। मतभेदसे असन्तोष होता है, पर '**वासुदेवः सर्वम्**' में कोई मतभेद न होनेसे सबको सर्वथा सन्तोष हो जाता है। '**वासुदेवः सर्वम्**' में न योगी है, न ज्ञानी है, न प्रेमी है, इसलिये इसका अनुभव करनेवाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

एक ही जल बर्फ, कोहरा, बादल, ओला, वर्षा, नदी, तालाब, समुद्र आदि अनेक रूपोंमें हो जाता है। कड़ाहीमें बर्फ डालकर उसको अग्निपर रखा जाय तो बर्फ पिघलकर पानी हो जायगी। फिर पानी भी भाप हो जायगा और भाप परमाणु होकर निराकार हो जायगा। जल ही कोहरारूपसे होता है, वही बादलरूपसे होता है, वही निराकाररूपसे होता है, वही बर्फरूपसे होता है, वही ओलारूपसे होता है, वही वर्षारूप होकर पृथ्वीपर बरसता है, वही नदीरूपसे होता है, वही समुद्ररूपसे होता है। अनेक रूपसे होनेपर भी तत्त्वसे जल एक ही रहता है। इसी तरह एक ही भगवान् अनेक रूपसे बन जाते हैं। जैसे जल ठण्डकसे जमकर बर्फ हो जाता है और गरमीसे पिघलकर तथा भाप बनकर परमाणुरूप हो जाता है, ऐसे ही अज्ञानरूपी ठण्डकसे भगवान् स्थूल तथा जड़ संसाररूपसे दीखते हैं और ज्ञानरूपी अग्निसे सूक्ष्म तथा चेतन वासुदेवरूपसे दीखते हैं। जल चाहे बर्फरूपसे दीखे, चाहे भाप, बादल आदि रूपोंसे दीखे, है वह जल ही। जलके सिवाय कुछ नहीं है। ऐसे ही भगवान् चाहे संसाररूपसे दीखें, चाहे अन्य रूपोंसे दीखें, हैं वे भगवान् ही। भगवान्के सिवाय कुछ नहीं है।

साधकसे एक गलती होती है कि वह अपनेको अलग रखकर संसारको भगवत्स्वरूप देखनेकी चेष्टा करता है अर्थात् '**वासुदेवः सर्वम्**' को अपनी बुद्धिका विषय बनाता है। वास्तवमें दीखनेवाला संसार ही भगवत्स्वरूप नहीं है, प्रत्युत देखनेवाला भी भगवत्स्वरूप है—'**सकलमिदमहं च वासुदेवः**' (विष्णुपुराण ३। ७। ३२)। अतः साधकको ऐसा मानना चाहिये कि अपनी देहसहित सब कुछ भगवान् ही हैं अर्थात् शरीर भी भगवत्स्वरूप है, इन्द्रियाँ भी भगवत्स्वरूप हैं, मन भी भगवत्स्वरूप है, बुद्धि भी भगवत्स्वरूप है, प्राण भी भगवत्स्वरूप हैं, और अहम् (मैंपन) भी भगवत्स्वरूप है। सब कुछ भगवान् ही हैं— इसको माननेके लिये साधकको बुद्धिसे जोर नहीं लगाना चाहिये, प्रत्युत सहजरूपसे जैसा है, वैसा स्वीकार कर लेना चाहिये। इसलिये श्रीमद्भागवतमें आया है—

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया।
परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥

(११। २९। १८)

जब 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—ऐसा निश्चय हो जाय, तब साधक इस अध्यात्मविद्या (ब्रह्मविद्या) के द्वारा सब प्रकारसे संशयरहित होकर सब जगह भगवान्को भलीभाँति देखता हुआ उपराम हो जाय अर्थात् 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—यह चिन्तन भी न रहे, प्रत्युत साक्षात् भगवान् ही दीखने लगें।

तात्पर्य है कि 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इस भावसे भी उपराम हो जाय अर्थात् न द्रष्टा (देखनेवाला) रहे, न दृश्य (दीखनेवाला) रहे और न दर्शन (देखनेकी वृत्ति) ही रहे, केवल भगवान् ही रहें।

'**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव अनेक दृष्टियोंसे हो सकता है; जैसे—

(१) क्रिया, पदार्थ और व्यक्तिका तो आदि और अन्त होता है, पर सत्ता निरन्तर ज्यों-की-त्यों रहती है। इसलिये मनुष्यमात्रको क्रिया, पदार्थ और व्यक्तिके अभावका तो अनुभव होता है, पर अपनी सत्ताके अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। इस नित्य-निरन्तर रहनेवाली सत्ताका अनुभव होना विवेककी दृष्टिसे '**वासुदेवः सर्वम्**' है।

(२) सृष्टिसे पहले भी केवल भगवान् थे और पीछे भी केवल भगवान् रहेंगे, फिर बीचमें भगवान्के सिवाय दूसरा कैसे आ सकता है?—यह युक्तिकी दृष्टिसे '**वासुदेवः सर्वम्**' है।

(३) मेरे तो एक भगवान् ही हैं, भगवान्के सिवाय मेरा कोई है ही नहीं; और कोई है तो होगा, हमें उससे क्या मतलब?—यह सीधे-सरल, विश्वासी भक्तोंकी दृष्टिसे '**वासुदेवः सर्वम्**' है। जैसे, व्रजमें एक साधु कुएँपर किसीसे बातें कर रहा था कि ब्रह्म ऐसा होता है, जीव ऐसा होता है आदि-आदि। वहाँ जल भरनेके लिये आयी एक गोपीने ये बातें सुनीं तो उसने दूसरी गोपीसे पूछा—अरी वीर! ये ब्रह्म, जीव आदि क्या होते हैं? वह गोपी बोली कि ये हमारे लालाके ही कोई सगे-सम्बन्धी होंगे, तभी साधुलोग उनकी बात करते हैं, नहीं तो साधुओंको लालाके सिवाय औरसे क्या मतलब?

(४) जिसके भीतर भगवत्तत्त्वको जाननेकी व्याकुलता है, दिनमें भूख नहीं लगती, रातमें नींद नहीं आती, वह किसी सन्तसे सुनकर अथवा पुस्तकमें पढ़कर दृढ़तापूर्वक मान लेता है कि सब कुछ भगवान् ही हैं। भगवान् कैसे हैं—इसका तो पता नहीं, पर भगवान्के सिवाय कुछ नहीं है—यह सन्तके वचनोंपर विश्वासकी दृष्टिसे '**वासुदेवः सर्वम्**' है। सन्त-वचनपर प्रत्यक्षसे भी बढ़कर विश्वास होनेपर फिर वैसा ही दीखने लग जाता है अर्थात् अनुभव हो जाता है।

दार्शनिक दृष्टिसे विचार करें तो सत्ता एक ही हो सकती है, दो नहीं। श्रद्धा-विश्वास (भक्ति) की दृष्टिसे देखें तो सब कुछ भगवान् ही हैं, भगवान्के सिवाय कुछ नहीं है। भक्तकी दृष्टि भगवान्को छोड़कर दूसरी तरफ जाती ही नहीं और भगवान्के सिवाय दूसरा कोई उसकी दृष्टिमें आता ही नहीं।

~~~

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥ २०॥

परन्तु—

तैः, तैः	= उन-उन	**प्रकृत्या**	= प्रकृति अर्थात् स्वभावसे		उन-उन
कामैः	= कामनाओंसे	**नियताः**	= नियन्त्रित होकर	**नियमम्**	= नियमोंको
हृतज्ञानाः	= जिनका ज्ञान हरा गया है, (ऐसे मनुष्य)	**तम्, तम्**	= उस-उस अर्थात् देवताओंके	**आस्थाय**	= धारण करते हुए
स्वया	= अपनी-अपनी			**अन्यदेवताः**	= अन्य देवताओंके
				प्रपद्यन्ते	= शरण हो जाते हैं।

विशेष भाव—भगवान्के अर्थार्थी और आर्त भक्तोंमें जो कामनाएँ हैं, वही कामनाएँ इस श्लोकमें वर्णित मनुष्योंमें भी हैं। परन्तु दोनोंमें फर्क यह है कि अर्थार्थी और आर्त भक्तोंमें कामनाकी मुख्यता नहीं है, प्रत्युत भगवान्की मुख्यता है, इसलिये वे '**हृतज्ञानाः**' नहीं हैं। परन्तु यहाँ वर्णित मनुष्योंमें कामनाकी मुख्यता है; इसलिये ये '**हृतज्ञानाः**' हैं।

अर्थार्थी और आर्त भक्त तो केवल भगवान्के ही शरण होते हैं, पर ये मनुष्य भगवान्को छोड़कर अन्य देवताओंके शरण होते हैं। कामनाएँ, देवता, मनुष्य और नियम—ये सभी अनेक हुआ करते हैं। अगर अनेक कामनाएँ होनेपर भी उपास्यदेव एक परमात्मा हों तो वे उपासकका उद्धार कर देंगे। परन्तु कामनाएँ भी अनेक हों और उपास्यदेव भी अनेक हों तो उद्धार कौन करेगा?

एक भगवान्के सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं—यह ज्ञान सुखकी कामनाके कारण ढक जाता है। यह कामना न तो प्रकृतिकी बनायी हुई है और न परमात्माकी बनायी हुई है, प्रत्युत मनुष्यकी अपनी बनायी हुई है। इसलिये इसको मिटानेकी जिम्मेवारी मनुष्यपर ही है। '**हृतज्ञानाः**' कहनेका तात्पर्य है कि यह ज्ञान नष्ट नहीं हुआ है, प्रत्युत कामनाके कारण हरा गया है। इस बातको गीतामें '**माययापहृतज्ञानाः**' (७। १५), '**अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्**' (५। १५) आदि पदोंसे भी कहा गया है।

इसी अध्यायके पन्द्रहवें श्लोकमें आये '**माययापहृतज्ञानाः**' पदमें तमोगुणकी प्रधानता और रजोगुणकी गौणता
~~~

है, पर यहाँ आये '**कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः**' पदमें रजोगुणकी प्रधानता और तमोगुणकी गौणता है। '**माययापहृतज्ञानाः**' पदमें अर्थकी इच्छा मुख्य है और '**कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः**' पदमें भोगोंकी इच्छा मुख्य है। दोनोंमें फर्क यह है कि मायासे अपहृत ज्ञानवाले मनुष्य देवताओंका पूजन नहीं करते, पर कामनाओंसे अपहृत ज्ञानवाले मनुष्य देवताओंका पूजन कर सकते हैं। कारण कि अर्थसे अरुचि नहीं होती—*'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई'*, पर भोगोंसे अरुचि होती ही है। '**माययापहृतज्ञानाः**' में तो आसुरभावका, झूठ, कपट, बेईमानी आदिका आश्रय है, पर '**कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः**' में देवताओंका आश्रय है। अतः '**माययापहृतज्ञानाः**' में तो विशेष जड़ता है, पर '**कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः**' में उनकी अपेक्षा चेतनता है*।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ २१॥

यः, यः	= जो-जो	**अर्चितुम्**	= पूजन करना	**अहम्**	= मैं
भक्तः	= भक्त	**इच्छति**	= चाहता है,	**ताम्**	= उसी
याम्, याम्	= जिस-जिस	**तस्य, तस्य**	= उस-उस देवतामें	**श्रद्धाम्**	= श्रद्धाको
तनुम्	= देवताका			**अचलाम्**	= दृढ़
श्रद्धया	= श्रद्धापूर्वक	**एव**	= ही	**विदधामि**	= कर देता हूँ।

विशेष भाव—प्रायः मनुष्य दूसरे मनुष्योंको अपनी तरफ लगाना चाहते हैं, अपना शिष्य या दास बनाना चाहते हैं, अपने सम्प्रदायमें लाना चाहते हैं, अपनेमें श्रद्धा करवाना चाहते हैं, अपना पूजन, आदर, मान-सम्मान करवाना चाहते हैं, अपनी बात मनवाना चाहते हैं। परन्तु भगवान् सर्वोपरि होते हुए भी किसीको अपने अधीन नहीं बनाते, प्रत्युत जो जहाँ श्रद्धा रखता है, उसकी श्रद्धाको वहीं दृढ़ कर देते हैं—यह भगवान्‌की कितनी उदारता है, निष्पक्षता है!

भगवान्‌की दृष्टिमें सब कुछ उनका ही स्वरूप है—'**मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति**'। इसलिये भगवान्‌में किसीके प्रति किञ्चिन्मात्र भी पक्षपात नहीं है। परन्तु भगवान्‌का यह पक्षपातरहित स्वभाव सहज ही समझमें नहीं आता, प्रत्युत गहरा विचार करनेसे ही समझमें आता है। अगर यह स्वभाव किसीकी समझमें आ जाय तो वह भगवान्‌का भक्त हो जायगा—

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना॥

(मानस, सुन्दर० ३४। २)

स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ (गीता १५। १९)

दूसरेको अपना दास वही बनाता है, जिसमें कोई कमी है। भगवान्‌में कोई कमी है ही नहीं, इसलिये वे अपनी तरफसे किसीको अपना दास (अधीन) कैसे बना सकते हैं? परन्तु कोई उनका दास बनना चाहे तो वे मना नहीं करते और दयापूर्वक उसको दास स्वीकार कर लेते हैं। यह उनकी विशेष उदारता है! जैसे छोटे-से बालकको देखकर कोई व्यक्ति रीझ जाता है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि उस बालकसे उसका कोई स्वार्थभाव है। ऐसे ही जो भगवान्‌का दास बनता है, उसके सरलभावसे भगवान् रीझ जाते हैं—*'मोरें अधिक दास पर प्रीती'* (मानस, उत्तर० १६। ४)। गीताके अठारहवें अध्यायमें जब भगवान्‌के द्वारा '**यथेच्छसि तथा कुरु**' सुनकर अर्जुन घबरा गये, तब भगवान् दयापरवश होकर अर्जुनसे बोले कि तू मेरी शरणमें आ जा—'**मामेकं शरणं व्रज**' (१८। ६६) परन्तु ऐसा कहनेसे पहले भगवान्‌ने कहा कि यह सबसे अत्यन्त गोपनीय बात है (१८। ६४) और बादमें भी कहा कि इसे हर किसीको मत कहना (१८। ६७)। इससे सिद्ध होता है कि दूसरेको अपना दास बनानेकी नीयत न होनेपर भी अगर कोई दूसरा सहारा न मिलनेपर मनुष्य घबरा जाय और उनका दास बनना चाहे तो भगवान् दयापरवश होकर उसको स्वीकार कर लेते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि जो किसी देवतापर श्रद्धा रखता है, उसकी श्रद्धाको भगवान् उस देवतामें दृढ़ कर देते हैं और जो भगवान्‌पर श्रद्धा रखता है, उसकी श्रद्धाको भगवान्

* जो अपनेको तथा दूसरेको भी जाने, वह 'चेतन' है और जो अपनेको तथा दूसरेको भी नहीं जाने, वह 'जड़' है।

अपनेमें दृढ़ कर दें—इसमें सन्देह ही क्या है! कारण कि भगवान्‌की दृष्टि भक्तके हितके लिये होती है, अपने स्वार्थके लिये नहीं।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥ २२॥

तया	=उस (मेरे द्वारा दृढ़ की हुई)		भावपूर्वक) उपासना	**हि**	=परन्तु
श्रद्धया	=श्रद्धासे	**ईहते**	=करता है	**तान्**	=वह (कामना-पूर्ति)
युक्तः	=युक्त होकर	**च**	=और	**मया**	=मेरे द्वारा
सः	=वह मनुष्य	**ततः**	=उसकी	**एव**	=ही
तस्य	=उस देवताकी	**कामान्**	=(वह) कामना	**विहितान्**	=विहित की हुई होती है।
आराधनम्	=(सकाम-	**लभते**	=पूरी भी होती है;		

विशेष भाव— भगवान्‌ने सब देवताओंको अलग-अलग और सीमित अधिकार दिये हुए हैं। परन्तु भगवान्‌का अधिकार असीम है। भगवान्‌में यह विशेषता है कि वे किसीपर शासन नहीं करते, किसीको अपना गुलाम नहीं बनाते, किसीको अपना चेला नहीं बनाते, प्रत्युत हर एकको अपना मित्र बनाते हैं, अपने समान बनाते हैं। जैसे, निषादराज सिद्ध भक्त था, विभीषण साधक था और सुग्रीव विषयी था, पर भगवान् श्रीरामने तीनोंको ही अपना सखा बनाया। यह विशेषता देवताओं आदि किसीमें भी नहीं है। इसलिये वेदोंमें भी भगवान्‌को जीवका सखा बताया गया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

(मुण्डक० ३। १। १, श्वेता० ४। ६)

गीतामें भी भगवान्‌ने अर्जुनको कहा है—'**भक्तोऽसि मे सखा चेति**' (४। ३)। यहाँ भगवान्‌ने 'भक्त' तो अर्जुनकी दृष्टिसे कहा है*, पर अपनी दृष्टिसे 'सखा' कहा है। '**ममैवांशो जीवलोके**' (१५। ७)—इन पदोंमें भी भगवान्‌ने '**एव**' पदसे जीवको साक्षात् अपना स्वरूप बताया है। यह मेरा ही अंश है—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि इसमें प्रकृतिका अंश बिलकुल नहीं है।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥ २३॥

तु	=परन्तु	**अन्तवत्**	=अन्तवाला (नाशवान्) ही	**यान्ति**	=प्राप्त होते हैं (और)
तेषाम्	=उन	**भवति**	=मिलता है।	**मद्भक्ताः**	=मेरे भक्त
अल्पमेधसाम्	=तुच्छ बुद्धिवाले मनुष्योंको	**देवयजः**	=देवताओंका पूजन करनेवाले	**माम्**	=मुझे
तत्	=उन देवताओंकी आराधनाका			**अपि**	=ही
				यान्ति	=प्राप्त होते हैं।
फलम्	=फल	**देवान्**	=देवताओंको		

* अर्जुनकी दृष्टिसे इसलिये 'भक्त' कहा कि अर्जुनने भगवान्‌की शरणागति स्वीकार की थी—'**शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**' (गीता २। ७)

विशेष भाव—देवताओंकी उपासना करनेवाले तो अधिक-से-अधिक देवताओंके पुनरावर्ती लोकोंमें ही जा सकते हैं, पर भगवान्‌की उपासना करनेवाले भगवान्‌को ही प्राप्त होते हैं। हाँ, अगर साधककी देवताओंमें भगवद्‌बुद्धि हो अथवा अपनेमें निष्कामभाव हो तो उसका उद्धार हो जायगा अर्थात् वह भी भगवान्‌को प्राप्त हो जायगा। परन्तु देवताओंमें भगवद्‌बुद्धि न हो और अपनेमें निष्कामभाव भी न हो तो उद्धार नहीं होगा।

देवताओंकी उपासनाका दोष यह है कि उसका फल अन्तवाला अर्थात् नाशवान् होता है; क्योंकि देवता खुद भी सीमित अधिकारवाले हैं। अतः जो भगवान्‌को छोड़कर अन्य देवताओंकी उपासना करते हैं, वे अल्प बुद्धिवाले हैं। यदि वे अल्प बुद्धिवाले न होते तो नाशवान् फल देनेवाले देवताओंकी उपासना क्यों करते? भगवान्‌की ही उपासना करते अथवा देवताओंमें भगवद्‌बुद्धि करते। भगवान्‌की उपासना तो बड़ी सुगम है, उसमें विधिकी, नियमकी, परिश्रमकी जरूरत नहीं है। उसमें तो केवल भावकी ही प्रधानता है। परन्तु देवताओंकी उपासनामें क्रिया, विधि और पदार्थकी प्रधानता है।

मनुष्यको संसारकी कितनी ही विद्याओंका, कला-कौशल आदिका ज्ञान हो जाय तो भी वह '**अल्पमेधा**' (तुच्छ बुद्धिवाला) ही है। वह ज्ञान वास्तवमें अज्ञानको दृढ़ करनेवाला है। परन्तु जिसने भगवान्‌को जान लिया है, उसको किसी सांसारिक विद्या, कला-कौशल आदिका ज्ञान न होनेपर भी वह '**सर्ववित्**' (सब कुछ जाननेवाला) है*!

~~~

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ २४॥

अबुद्धयः	=बुद्धिहीन मनुष्य	**भावम्**	=भावको		घन परमात्मा) को
मम	=मेरे	**अजानन्तः**	=न जानते हुए	**व्यक्तिम्**	=मनुष्यकी तरह
परम्	=परम,	**अव्यक्तम्**	=अव्यक्त (मन-		शरीर
अव्ययम्	= अविनाशी (और)		इन्द्रियोंसे पर)	**आपन्नम्**	=धारण करनेवाला
अनुत्तमम्	=सर्वश्रेष्ठ	**माम्**	=मुझ (सच्चिदानन्द-	**मन्यन्ते**	=मानते हैं।

विशेष भाव—भगवान् व्यक्त भी हैं और अव्यक्त भी हैं, लौकिक भी हैं और अलौकिक भी हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९), '**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। परन्तु बुद्धिहीन मनुष्य भगवान्‌को उन प्राणियोंकी तरह अव्यक्तसे व्यक्त होनेवाला अर्थात् लौकिक (जन्मने-मरनेवाला) मानते हैं, जिनके लिये भगवान्‌ने कहा है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

(गीता २। २८)

'हे भारत! सभी प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट थे और मरनेके बाद अप्रकट हो जायँगे, केवल बीचमें ही प्रकट दीखते हैं; अतः इसमें शोक करनेकी बात ही क्या है?'

भगवान् मनुष्योंकी तरह अव्यक्तसे व्यक्त नहीं होते, प्रत्युत अव्यक्त रहते हुए ही व्यक्त होते हैं और व्यक्त होते हुए भी अव्यक्त रहते हैं।

'**परम्**'—भगवान् देवताओंकी उपासना करनेवालोंको श्रद्धा भी देते हैं और उनकी उपासनाका फल भी देते हैं—यह भगवान्‌का परम अर्थात् पक्षपातरहित भाव है।

---

* **यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।**
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ (गीता १५। १९)
~~~

'अव्ययम्'—देवता सापेक्ष अविनाशी (अमर) हैं, सर्वथा अविनाशी नहीं। परन्तु भगवान् निरपेक्ष अविनाशी हैं। उनके समान अविनाशी दूसरा कोई नहीं है और हो भी नहीं सकता।

'अनुत्तमम्'—भगवान् प्राणिमात्रका हित चाहते हैं—यह भगवान्का सर्वश्रेष्ठ भाव है। इससे श्रेष्ठ दूसरा कोई भाव हो ही नहीं सकता।

~~~

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ २५॥

अयम्	= यह जो	**न, अभिजानाति**	= ठीक तरहसे नहीं जानता (मानता),	**समावृतः**	= योगमायासे अच्छी तरह ढका हुआ
मूढः	= मूढ़				
लोकः	= मनुष्य-समुदाय				
माम्	= मुझे	**सर्वस्य**	= उन सबके (सामने)	**अहम्**	= मैं
अजम्	= अज (और)			**प्रकाशः**	= प्रकट
अव्ययम्	= अविनाशी	**योगमाया-**		**न**	= नहीं होता।

विशेष भाव—जो बुद्धिहीन मनुष्य भगवान्को नहीं मानते, भगवान् अवतारकालमें सबके सामने प्रकट होते हुए भी उनके सामने प्रकट नहीं होते—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११)। वास्तवमें भगवान् अप्रकट रहना चाहते नहीं, पर जो उनको नहीं मानते, उनके सामने वे कैसे प्रकट हों?

अवतारकालमें भगवान् लौकिक रूपमें दीखनेपर भी वास्तवमें सदा अलौकिक ही रहते हैं। परन्तु राग-द्वेषके कारण अज्ञानी मनुष्योंको भगवान् लौकिक दीखते हैं अर्थात् भगवान्रूपसे न दीखकर मनुष्यरूपसे ही दीखते हैं।

~~~

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ २६॥

अर्जुन	= हे अर्जुन!	**च**	= और	**तु**	= परन्तु
भूतानि	= जो प्राणी	**भविष्याणि**	= जो भविष्यमें होंगे, (उन सब प्राणियोंको तो)	**माम्**	= मुझे
समतीतानि	= भूतकालमें हो चुके हैं,			**कश्चन**	= (भक्तके सिवाय) कोई भी
च	= तथा	**अहम्**	= मैं	**न**	= नहीं
वर्तमानानि	= जो वर्तमानमें हैं	**वेद**	= जानता हूँ;	**वेद**	= जानता।

विशेष भाव—यहाँ शंका हो सकती है कि जब भगवान् सब जीवोंको जानते ही हैं तो फिर जिसको बद्ध जानते हैं, वह बद्ध ही रहेगा और जिसको मुक्त जानते हैं, वही मुक्त होगा; क्योंकि भगवान्का ज्ञान नित्य है! यह शंका वस्तुतः संसारकी सत्ता और महत्ताको लेकर (हमारी दृष्टिमें) है। वास्तवमें भगवान् और महात्मा—दोनोंकी ही दृष्टिमें संसार नहीं है, प्रत्युत केवल भगवान् ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'**। हमने ही अहम्के कारण संसारको सत्ता और महत्ता दे रखी है। इसलिये भगवान् हमारी भाषामें भूत-भविष्य-वर्तमानकी बात कहते हैं। अगर वे हमारी भाषामें नहीं बोलेंगे तो हम समझेंगे कैसे? जैसे, हमें अँग्रेजी भाषा सिखानेवाला अगर अँग्रेजी भाषामें ही बोले तो हम अँग्रेजी सीख ही नहीं सकेंगे।

भगवान्का ज्ञान नित्य है। सब कुछ भगवान्के ज्ञानके अन्तर्गत है। उनके ज्ञानसे बाहर कुछ भी नहीं है। भगवान्के ज्ञानमें उनके सिवाय कुछ नहीं है—**'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति'** (गीता ७। ७)। जीवने ही अहम्के

कारण (अज्ञानसे) जगत्‌को धारण कर रखा है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५) । अत: बन्धन और मोक्ष जीवके ही बनाये हुए हैं। तत्त्वसे न बन्धन है, न मोक्ष; किन्तु केवल परमात्मा ही हैं*।

दो बार '**च**' पद देनेका तात्पर्य है कि कोई भी काल स्थायी नहीं है। न भूतकाल सदा रहता है, न वर्तमान सदा रहता है और न भविष्य सदा रहता है, पर भगवान् सदा रहते हैं। जैसे भूतकाल और भविष्यकाल अभी नहीं हैं, ऐसे ही वर्तमानकाल भी नहीं है। भूतकाल और भविष्यकालकी सन्धिको ही वर्तमानकाल कह देते हैं। पाणिनि-व्याकरणका एक सूत्र है—'**वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा**' (३। ३। १३१) अर्थात् वर्तमानसामीप्य भी वर्तमानकी तरह होता है। जैसे, भूतकालको लेकर कहते हैं कि 'मैं अभी आया हूँ' और भविष्यकालको लेकर कहते हैं कि 'मैं अभी जा रहा हूँ'— यह वर्तमानसामीप्य है। वास्तवमें वर्तमानसामीप्यको ही वर्तमानकाल कह देते हैं। अगर वर्तमानकाल वास्तवमें होता तो वह कभी भूतकालमें परिणत नहीं होता। वास्तवमें काल वर्तमान नहीं है, प्रत्युत भगवान् ही वर्तमान हैं। तात्पर्य है कि जो प्रतिक्षण बदलता है, वह वर्तमान नहीं है, प्रत्युत जो कभी नहीं बदलता, वही वर्तमान है। इसलिये भगवान्‌ने श्लोकके आरम्भमें वर्तमान-क्रिया दी है—'**वेदाहम्**' (मैं जानता हूँ)। भगवान् भूत, भविष्य और वर्तमान—सबमें सदा वर्तमान हैं, पर भगवान्‌में न भूत है, न भविष्य है और न वर्तमान है। भगवान्‌का वर्तमानपना कालके अधीन नहीं है; क्योंकि भगवान् कालातीत हैं। काल न भगवान्‌की दृष्टिमें है, न महात्माकी दृष्टिमें।

~~~

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥ २७॥

कारण कि—

भारत	=हे भरतवंशमें उत्पन्न		द्वेषसे उत्पन्न होनेवाले	**सर्गे**	=संसारमें (अनादिकालसे)
परन्तप	=शत्रुतापन अर्जुन!	**द्वन्द्वमोहेन**	=द्वन्द्व-मोहसे (मोहित)	**सम्मोहम्**	=मूढ़ताको अर्थात् जन्म-मरणको
इच्छा-द्वेषसमुत्थेन	=इच्छा (राग) और	**सर्वभूतानि**	=सम्पूर्ण प्राणी	**यान्ति**	=प्राप्त हो रहे हैं।

विशेष भाव—यद्यपि संसार-बन्धनका मूल कारण अज्ञान है, तथापि अज्ञानकी अपेक्षा भी मनुष्य राग-द्वेषरूप द्वन्द्वसे संसारमें ज्यादा फँसता है। किसी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिको अपने सुख-दु:खका कारण माननेसे राग-द्वेष पैदा होते हैं। जिसको अपने सुखका कारण मानते हैं, उसमें 'राग' हो जाता है और जिसको अपने दु:खका कारण मानते हैं, उसमें 'द्वेष' हो जाता है। राग-द्वेष मिटनेपर मनुष्य सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है—'**निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते**' (गीता ५। ३)।

पहले तेरहवें श्लोकमें भी भगवान् कह चुके हैं कि तीनों गुणोंसे मोहित प्राणी मेरेको नहीं जानता। ऐसे मोहित प्राणी न संसारको जानते हैं, न भगवान्‌को। संसारमें रचे-पचे रहकर मनुष्य संसारको नहीं जान सकता और भगवान्‌से अलग (दूर) रहकर मनुष्य भगवान्‌को नहीं जान सकता। वास्तवमें संसारका ज्ञान संसारसे अलग होनेपर और भगवान्‌का ज्ञान भगवान्‌से अभिन्न होनेपर ही होता है। संसार नहीं है—यही संसारका ज्ञान है। वास्तवमें जो है ही नहीं, रहता ही नहीं, उसका ज्ञान कैसा? संसार है—ऐसा मानना ही अज्ञान है।

~~~

* **न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥**

(आत्मोपनिषद् ३१)

'न प्रलय है और न उत्पत्ति है, न बद्ध है और न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त है—यही परमार्थता अर्थात् वास्तविक तत्त्व है।'

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ २८॥

तु	=परन्तु	**पापम्**	=पाप		रहित हुए मनुष्य
येषाम्	=जिन	**अन्तगतम्**	=नष्ट हो गये हैं,	**दृढव्रताः**	=दृढ़व्रती होकर
पुण्यकर्मणाम्	=पुण्यकर्मा	**ते**	=वे	**माम्**	=मेरा
जनानाम्	=मनुष्योंके	**द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः**	= द्वन्द्वमोहसे	**भजन्ते**	=भजन करते हैं।

विशेष भाव—भगवान्‌के सम्मुख होना सबसे बड़ा पुण्य है; क्योंकि यह सब पुण्योंका मूल है*। परन्तु भगवान्‌से विमुख होना सबसे बड़ा पाप है; क्योंकि यह सब पापोंका मूल है। जिन मनुष्योंके पाप नष्ट हो गये हैं अर्थात् जो संसारसे विमुख होकर भगवान्‌के सम्मुख हो गये हैं, वे राग-द्वेष, हर्ष-शोक, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे रहित होकर भगवान्‌का भजन करते हैं। भजन करनेवालोंके प्रकारका वर्णन भगवान् सोलहवें श्लोकमें '**चतुर्विधा भजन्ते माम्**' पदोंसे कर चुके हैं।

राग-द्वेष मनुष्यको संसारकी तरफ खींचते रहते हैं। जबतक एक वस्तुमें राग रहता है, तबतक दूसरी वस्तुमें द्वेष रहता ही है; क्योंकि मनुष्य किसी वस्तुके सम्मुख होगा तो किसी वस्तुसे विमुख होगा ही। जबतक मनुष्यके भीतर राग-द्वेष रहते हैं; तबतक वह भगवान्‌के सर्वथा सम्मुख नहीं हो सकता; क्योंकि उसका सम्बन्ध संसारसे जुड़ा रहता है। उसका जितने अंशमें संसारसे राग रहता है, उतने अंशमें भगवान्‌से द्वेष अर्थात् विमुखता रहती है।

'**दृढव्रताः**'—ढीली प्रकृतिवाला अर्थात् शिथिल स्वभाववाला मनुष्य असत्‌का जल्दी त्याग नहीं कर सकता। एक विचार किया और उसको छोड़ दिया, फिर दूसरा विचार किया और उसको छोड़ दिया—इस प्रकार बार-बार विचार करने और उसको छोड़ते रहनेसे आदत बिगड़ जाती है। इस बिगड़ी हुई आदतके कारण ही वह असत्‌के त्यागकी बातें तो सीख जाता है, पर असत्‌का त्याग नहीं कर पाता। अगर वह असत्‌का त्याग कर भी देता है तो स्वभावकी ढिलाईके कारण फिर उसको सत्ता दे देता है। स्वभावकी यह शिथिलता स्वयं साधककी बनायी हुई है। अतः साधकके लिये यह बहुत आवश्यक है कि वह अपना स्वभाव दृढ़ रहनेका बना ले। एक बार वह जो विचार कर ले, उसपर वह दृढ़ रहे। छोटी-से-छोटी बातमें भी वह दृढ़ (पक्का) रहे तो ऐसा स्वभाव बननेसे उसमें असत्‌का त्याग करनेकी, संसारसे विमुख होनेकी शक्ति आ जायगी।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ २९॥

जरामरण-		**माम्**	=मेरा	**कृत्स्नम्**	=सम्पूर्ण
मोक्षाय	=वृद्धावस्था	**आश्रित्य**	=आश्रय लेकर	**अध्यात्मम्**	=अध्यात्मको
	और मृत्युसे	**यतन्ति**	=प्रयत्न करते हैं,	**च**	=और
	मुक्ति पानेके	**ते**	=वे	**अखिलम्**	=सम्पूर्ण
	लिये	**तत्**	=उस	**कर्म**	=कर्मको
ये	=जो मनुष्य	**ब्रह्म**	=ब्रह्मको,	**विदुः**	=जान जाते हैं।

* **सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥**

(मानस, सुन्दर० ४४। १)

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ ३०॥

ये	= जो मनुष्य	**माम्**	= मुझे	**प्रयाणकाले**	= अन्तकालमें
साधि-भूताधिदैवम्	= अधिभूत तथा अधिदैवके सहित	**विदुः**	= जानते हैं,	**अपि**	= भी
च	= और	**ते**	= वे	**माम्**	= मुझे
साधियज्ञम्	= अधियज्ञके सहित	**युक्तचेतसः**	= मुझमें लगे हुए चित्तवाले मनुष्य	**च**	= ही
				विदुः	= जानते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं।

विशेष भाव—इस अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा था कि मैं वह विज्ञानसहित ज्ञान कहूँगा, जिससे तू मेरे समग्ररूपको जान जायगा और जिसको जाननेके बाद फिर कुछ भी जानना बाकी नहीं रहेगा। फिर उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने **'वासुदेवः सर्वम्'** कहकर अपने समग्ररूपका संक्षेपसे वर्णन किया। अब अध्यायके अन्तमें भगवान् उसका खुलासा करते हैं।

साधकका जन्म तो हो चुका है और व्याधि अवश्यम्भावी नहीं है; परन्तु वृद्धावस्था और मत्यु—ये दोनों अवश्यम्भावी हैं और इनसे मनुष्यको अधिक दुःख होता है। इसलिये यहाँ **'जरामरणमोक्षाय'** कहनेका तात्पर्य है कि भगवान्‌का आश्रय लेनेवाले भक्त जरा और मरण—दोनोंसे मुक्त हो जाते हैं अर्थात् उनको शरीरके रहते हुए वृद्धावस्थाका भी दुःख नहीं होता और गतिके विषयमें भी दुःख नहीं होता कि मरनेके बाद हमारी क्या गति होगी? वे भगवान्‌का आश्रय लेकर प्रयत्न करते हैं, इसलिये वे परा-अपराके सहित भगवान्‌के समग्ररूपको जान लेते हैं अर्थात् विज्ञानसहित ज्ञानको जान लेते हैं।

यद्यपि कर्मयोगी और ज्ञानयोगी भी जन्म-मरणसे मुक्त हो जाते हैं, पर भक्त जरा-मरणसे मुक्त होनेके साथ-साथ भगवान्‌के समग्ररूपको भी जान लेते हैं। कारण कि कर्मयोगी और ज्ञानयोगीकी तो आरम्भसे ही अपने साधनकी निष्ठा होती है (गीता ३। ३), पर भक्त आरम्भसे ही भगवन्निष्ठ अर्थात् भगवत्परायण होता है। भगवन्निष्ठ होनेसे भगवान् कृपा करके उसको अपने समग्ररूपका ज्ञान करा देते हैं।

इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने कहा था कि कोई एक ही (विरला) मनुष्य मेरे समग्ररूपको जानता है— **'कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः'।** यहाँ बताते हैं कि जो मेरे शरण हो जाता है, वह मेरे समग्ररूपको जान लेता है। अतः भगवान्‌के समग्ररूप (विज्ञानसहित ज्ञान) को जाननेकी मुख्य साधना है—शरणागति **(मामाश्रित्य)**। कारण कि समग्रका ज्ञान विचारसे नहीं होता, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वासपूर्वक शरणागत होनेपर भगवत्कृपासे ही होता है। इसलिये भगवान्‌ने सातवें अध्यायके आरम्भमें **'मदाश्रयः'** कहकर अन्तमें **'मामाश्रित्य'** पदसे उसका उपसंहार किया है।

ब्रह्म (निर्गुण-निराकार), **कृत्स्न अध्यात्म** (अनन्त योनियोंके अनन्त जीव) तथा **अखिल कर्म** (उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय आदिकी सम्पूर्ण क्रियाएँ)—यह **'ज्ञान'** का विभाग है। इस विभागमें निर्गुणकी मुख्यता है।

अधिभूत (अपने शरीरसहित सम्पूर्ण पाञ्चभौतिक जगत्), **अधिदैव** (मन-इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवतासहित ब्रह्माजी आदि सभी देवता) तथा **अधियज्ञ** (अन्तर्यामी विष्णु और उनके सभी रूप)—यह **'विज्ञान'** का विभाग है। इस विभागमें सगुणकी मुख्यता है।

अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके 'सहित' कहनेका तात्पर्य है कि सत्-असत्, परा-अपरा सब कुछ भगवान् ही हैं। भगवान्‌के सिवाय किंचिन्मात्र भी कुछ नहीं है। सत्-असत्‌को अलग-अलग करनेसे ज्ञानमार्ग होता है— **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। उभयोरपि.....'** (गीता २। १६) और एक करनेसे भक्तिमार्ग होता है—**'सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९। १९)।

'ब्रह्म' की बात पहले पाँचवें अध्यायमें तेरहवेंसे छब्बीसवें श्लोकतक कही गयी है। 'कृत्स्न अध्यात्म' की

बात पहले छठे अध्यायके उन्तीसवें श्लोकमें '**सर्वभूतस्थमात्मानम्**' पदसे कही गयी है। 'अखिल कर्म' की बात पहले चौथे अध्यायके अठारहवें, तेईसवें और तैंतीसवें श्लोकमें क्रमशः '**कृत्स्नकर्मकृत्**', '**कर्म समग्रम्**' और '**सर्वं कर्माखिलम्**' पदसे कही गयी है।

अभाव कर्मका होता है, आत्मा या ब्रह्मका नहीं। न्यायमें आता है कि किसी वस्तुके भावका ज्ञान जिस इन्द्रियसे होता है, उसी इन्द्रियसे उसके अभावका और जातिका ज्ञान भी होता है। अतः मनुष्य जिस ज्ञानसे कर्मोंको जानता है (**कर्म चाखिलम्**), उसी ज्ञानसे कर्मोंके अभावको अर्थात् अकर्मको भी जानता है—'**कर्मण्यकर्म यः पश्येत्**' (गीता ४। १८)। ब्रह्म, आत्मा और अकर्म तीनों एक ही हैं; ऐसा जानना ही '**ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्**' पदोंका तात्पर्य है।

'कर्म' सीमित है, कर्मसे व्यापक 'अध्यात्म' है और अध्यात्मसे व्यापक 'ब्रह्म' है। परन्तु '**माम्**' (समग्र) उस ब्रह्मसे भी श्रेष्ठ है; क्योंकि ब्रह्मके अन्तर्गत तो समग्र नहीं आता, पर समग्रके अन्तर्गत ब्रह्म आ जाता है।

'अध्यात्म' के साथ 'कृत्स्न' शब्द देनेका तात्पर्य है—जिनको भगवान्ने अपनी परा प्रकृति बताया है, वे अनेक रूपसे दीखनेवाले सम्पूर्ण जीव। 'कर्म' के साथ 'अखिल' शब्द देनेका तात्पर्य है—जिनके फलस्वरूप जीव अनेक योनियोंमें और अनेक लोकोंमें जाता है, वे शुभ-अशुभ सम्पूर्ण कर्म, परन्तु 'ब्रह्म' के साथ 'कृत्स्न' या 'अखिल' शब्द न देनेका तात्पर्य है कि ब्रह्म अनेक नहीं है, प्रत्युत एक ही है।

गीतामें भगवान्ने दो निष्ठाएँ बतायी हैं—कर्मयोग और ज्ञानयोग। ये दोनों ही निष्ठाएँ लौकिक हैं—'**लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा**' (गीता ३। ३); परन्तु भक्तियोग अलौकिक निष्ठा है। कारण कि कर्मयोगमें 'क्षर' (संसार) की प्रधानता है और ज्ञानयोगमें 'अक्षर' (जीवात्मा)की प्रधानता है। क्षर और अक्षर—दोनों ही लोकमें हैं—'**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**' (गीता १५। १६) इसलिये कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों लौकिक निष्ठाएँ हैं। परन्तु भक्तियोगमें 'परमात्मा' की प्रधानता है, जो क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम है*। इसलिये भक्तियोग अलौकिक निष्ठा है। भगवान्के समग्ररूपमें ब्रह्म, अध्यात्म तथा कर्म—इनमें लौकिक निष्ठा (कर्मयोग तथा ज्ञानयोग) की बात आयी है† और अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ—इनमें अलौकिक निष्ठा (भक्तियोग) की बात आयी है। 'ज्ञान' लौकिक है—'**न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह‡ विद्यते**' (गीता ४। ३८) और 'विज्ञान' अलौकिक है। लौकिक तथा अलौकिक—दोनों ही समग्र भगवान्के रूप हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**'।

'लोक' शब्दमें जड़ भी है और चेतन भी। केवल जड़ अथवा केवल चेतनका वाचक 'लोक' शब्द नहीं हो सकता। अतः 'लौकिक' में जड़ और चेतन दोनों आते हैं, पर 'अलौकिक' में केवल चेतन ही आता है; क्योंकि अलौकिक सदा चिन्मय ही होता है। परन्तु 'समग्र' में लौकिक और अलौकिक—दोनों आ जाते हैं।

---

* **उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥**
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ (गीता १५। १७-१८)

† 'अध्यात्म' से ज्ञानयोग और 'कर्म' से कर्मयोग लेना चाहिये। ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनोंसे 'ब्रह्म' की प्राप्ति होती है—

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते। एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ (गीता ५। ४-५)

'बेसमझ लोग सांख्ययोग और कर्मयोगको अलग-अलग फलवाले कहते हैं, न कि पण्डितजन; क्योंकि इन दोनोंमेंसे एक साधनमें भी अच्छी तरहसे स्थित मनुष्य दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त कर लेता है।' 'सांख्ययोगियोंके द्वारा जो तत्त्व प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंके द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। अतः जो मनुष्य सांख्ययोग और कर्मयोगको (फलरूपमें) एक देखता है, वही ठीक देखता है।'

भक्तिका प्रसंग होनेसे यहाँ भगवान्ने ज्ञानयोग और कर्मयोगका विस्तारसे वर्णन नहीं किया। इनका विस्तारसे वर्णन पिछले (दूसरेसे छठे) अध्यायोंमें कर चुके हैं।

‡ यहाँ 'पवित्रमिह' के अन्तर्गत आया 'इह' शब्द लोकका वाचक है।

यहाँ एक विशेष ध्यान देनेकी बात है कि निर्गुण-निराकार 'ब्रह्म' का नाम भगवान्‌के समग्ररूपके अन्तर्गत आया है। लोगोंमें प्राय: इस बातकी प्रसिद्धि है कि 'निर्गुण-निराकार ब्रह्मके अन्तर्गत ही सगुण ईश्वर है। ब्रह्म मायारहित है और ईश्वर मायासहित है। अत: ब्रह्मके एक अंशमें ईश्वर है।' वास्तवमें ऐसा मानना शास्त्रसम्मत एवं युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि जब ब्रह्ममें माया है ही नहीं तो फिर मायासहित ईश्वर ब्रह्मके अन्तर्गत कैसे हुआ? ब्रह्ममें माया कहाँसे आयी? परन्तु गीतामें भगवान् कह रहे हैं कि मेरे समग्ररूपके एक अंशमें ब्रह्म है! इसलिये भगवान्‌ने अपनेको ब्रह्मका आधार बताया है—'**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्**' (गीता १४। २७) 'मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ' तथा '**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना**' (गीता ९। ४) 'यह सब संसार मेरे अव्यक्त स्वरूपसे व्याप्त है।' भगवान्‌के इस कथनका तात्पर्य है कि ब्रह्मका अंश मैं नहीं हूँ, प्रत्युत मेरा अंश ब्रह्म है। अत: निष्पक्ष विचार करनेसे ऐसा दीखता है कि गीतामें ब्रह्मकी मुख्यता नहीं है, प्रत्युत ईश्वरकी मुख्यता है। पूर्ण तत्त्व समग्र ही है। समग्रमें सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार सब आ जाते हैं।

वास्तवमें देखा जाय तो समग्ररूप सगुणका ही हो सकता है; क्योंकि सगुण शब्दके अन्तर्गत तो निर्गुण आ सकता है, पर निर्गुण शब्दके अन्तर्गत सगुण नहीं आ सकता। कारण कि सगुणमें निर्गुणका निषेध नहीं है, जबकि निर्गुणमें गुणोंका निषेध है। अत: निर्गुणमें समग्र शब्द लग ही नहीं सकता। इसलिये यहाँ 'अध्यात्म' और 'कर्म' के साथ तो क्रमश: 'कृत्स्न' और 'अखिल' शब्द आये हैं, जो समग्रताके वाचक हैं, पर 'ब्रह्म' के साथ समग्रताका वाचक कोई शब्द कहीं भी नहीं आया है। अत: समग्रता सगुणमें ही है, निर्गुणमें नहीं।

प्रश्न—ब्रह्म, अध्यात्म और कर्म—ये तीनों लौकिक कैसे हैं?

उत्तर—भगवान्‌ने ब्रह्मको 'अक्षर' कहा है—'**अक्षरं ब्रह्म परमम्**' (गीता ८। ३) और जीवको भी 'अक्षर' कहा है—'**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**' (गीता १५। १६)। जीव और ब्रह्म—दोनों एक हैं—'**अयमात्मा ब्रह्म**' (माण्डूक्य० १)। प्रकृति (शरीर) के साथ सम्बन्ध होनेसे जो 'जीव' (अध्यात्म) है*, वही प्रकृतिके साथ सम्बन्ध न होनेसे सामान्य 'ब्रह्म' है। अत: गीताके अनुसार जैसे जीव लोकमें है, ऐसे ही ब्रह्म भी लोकमें है अर्थात् ब्रह्म लौकिक निष्ठा (कर्मयोग तथा ज्ञानयोग) से प्रापणीय तत्त्व है।

'अध्यात्म' अर्थात् जीवने जगत्‌को धारण किया हुआ है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। जीवकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसलिये जगत्‌के संगसे जीव भी जगत् अर्थात् लौकिक हो जाता है (गीता ७। १३)। लोकमें होनेके कारण भी जीव लौकिक है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७), '**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**' (गीता १५। १६)।

'कर्म' दो प्रकारसे होते हैं—सकामभावसे और निष्कामभावसे। ये दोनों ही प्रकारके कर्म लोकमें होनेसे लौकिक हैं†।

प्रश्न—अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—ये तीनों अलौकिक कैसे हैं?

उत्तर—'अधिभूत' अर्थात् सम्पूर्ण पाञ्चभौतिक जगत् तत्त्वसे भगवान्‌का ही स्वरूप होनेसे अलौकिक है—'**अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९) 'अमृत और मृत्यु तथा सत् और असत् भी मैं ही हूँ‡।

---

* **बँध्यो बिषय सनेह ते, ताते कहियै जीव। अलख अजोणी आप है, हरिया न्यारौ थीव॥**

† लोकमें होनेवाले सकाम-कर्म—'**यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।**' (गीता ३। ९), '**क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥**' (गीता ४। १२); '**कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके**' (गीता १५। २)।

लोकमें होनेवाले निष्काम-कर्म—'**लोकेऽस्मिन्द्विविधा.........योगिनाम्॥**' (गीता ३। ३)।

वास्तवमें कर्म सकाम या निष्काम नहीं होते, प्रत्युत कर्ता सकाम या निष्काम होता है। अत: सकाम-निष्कामभाव कर्तामें रहते हैं।

‡ **मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः। अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥**

(श्रीमद्भा० ११। १३। २४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे भी जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अत: मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आपलोग विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें, स्वीकार कर लें।

भगवान्‌ने अर्जुनको जो विराट्‌रूप दिखाया था, वह भी दिव्य अर्थात् अलौकिक था*। वह दिव्य विराट्‌रूप भगवान्‌ने अपने ही दिव्य शरीरके एक अंगमें दिखाया था†। अत: भगवान्‌का ही विराट्‌रूप होनेसे यह पाञ्चभौतिक जगत् भी अलौकिक ही है‡। भगवान्‌ने संसारमें अपनी विभूतियोंको भी दिव्य अर्थात् अलौकिक कहा है—**'दिव्या ह्यात्मविभूतयः'** (गीता १०। १९), **'मम दिव्यानां विभूतीनाम्'** (१०। ४०)§। परन्तु जीवको अज्ञानवश अपनी बुद्धिसे (राग-द्वेषके कारण) यह जगत् लौकिक दीखता है। इसलिये अज्ञान मिटनेपर जड़ता रहती ही नहीं, केवल चिन्मयता रहती है।

'अधिदैव' अर्थात् ब्रह्माजी आदि सभी देवता अलौकिक हैं।

'अधियज्ञ' अर्थात् अन्तर्यामी भगवान् सबके हृदयमें रहते हुए भी निर्लिप्त होनेके कारण अलौकिक हैं#।

भगवान्‌ने **'साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञम्'** पदोंमें अपनेको अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञके सहित जाननेकी बात कही है। इससे सिद्ध होता है कि परमात्माके सहित होनेसे ही ये तीनों अलौकिक हैं, अन्यथा लौकिक ही हैं। जबतक भगवान्‌के साथ सम्बन्ध नहीं होता, तबतक सब लौकिक ही होता है; परन्तु भगवान्‌के साथ सम्बन्ध होनेसे सब अलौकिक हो जाता है। इसलिये अपना उद्योग मुख्य होनेसे कर्मयोग तथा ज्ञानयोग 'लौकिक निष्ठा' है और भगवान्‌का आश्रय मुख्य होनेसे भक्तियोग 'अलौकिक निष्ठा' है।

वास्तवमें लौकिक कोई तत्त्व नहीं है। वास्तविक तत्त्व तो अलौकिक ही है। परन्तु साधककी दृष्टिसे लौकिक और अलौकिक—ये दो भेद कहे गये हैं। तात्पर्य है कि लौकिक-अलौकिकका विभाग अज्ञानवश होनेवाले राग-द्वेषके कारण ही है। राग-द्वेष न हों तो सब कुछ अलौकिक, चिन्मय, दिव्य ही है—**'वासुदेवः सर्वम्'।** कारण कि लौकिककी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। राग-द्वेषके कारण ही लौकिककी सत्ता और महत्ता दीखती है। राग-द्वेषके कारण ही जीवने भगवत्स्वरूप संसारको भी लौकिक बना दिया और खुद भी लौकिक बन गया!

---

* **'नानाविधानि दिव्यानि'** (गीता ११। ५), **'अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्'** (११। १०), **'दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्'** (११। ११), **'पश्यामि देवांस्तव देव देहे''''''सर्वानुरगांश्च दिव्यान्'** (११। १५)।

† भगवान्‌के वचन हैं—**'इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं''''''मम देहे'** (११। ७)।

संजयके वचन हैं—**'तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं''''''''अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे'** (११। १३)।

अर्जुनके वचन हैं—**'पश्यामि देवांस्तव देव देहे'** (११। १५)।

‡ **खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।**
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, जीव-जन्तु, दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ, समुद्र—सब-के-सब भगवान्‌के ही शरीर हैं—ऐसा मानकर भक्त सभीको अनन्यभावसे प्रणाम करता है।'

भूद्वीपवर्षसरिदद्रिनभःसमुद्रपातालदिङ्‌नरकभागणलोकसंस्था ।
गीता मया तव नृपाद्भुतमीश्वरस्य स्थूलं वपुः सकलजीवनिकायधाम॥

(श्रीमद्भा० ५। २६। ४०)

'परीक्षित्! मैंने तुमसे पृथ्वी, उसके अन्तर्गत द्वीप, वर्ष, नदी, पर्वत, आकाश, समुद्र, पाताल, दिशा, नरक, ज्योतिर्गण और लोकोंकी स्थितिका वर्णन किया। यही भगवान्‌का अति अद्भुत स्थूल रूप है, जो समस्त जीवसमुदायका आश्रय है।'

§ अर्जुनने भी विभूतियोंको दिव्य कहा है—**'वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः'** (१०। १६)।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

(मुण्डक० ३। १। १; श्वेताश्वतर० ४। ६)

'एक साथ रहनेवाले तथा परस्पर सखाभाव रखनेवाले दो पक्षी—जीवात्मा और परमात्मा एक ही वृक्ष—शरीरका आश्रय लेकर रहते हैं। उन दोनोंमेंसे एक (जीवात्मा) तो उस वृक्षके कर्मफलोंका स्वाद ले-लेकर उपभोग करता है, पर दूसरा (परमात्मा) उपभोग न करता हुआ केवल प्रकाशित करता है।'

विज्ञानसहित ज्ञानका अर्थात् भगवान्‌के समग्ररूपका वर्णन करनेका तात्पर्य यही है कि जड़-चेतन, सत्-असत्, परा-अपरा, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ आदि जो कुछ भी है, वह सब भगवान्‌का ही स्वरूप है। इसलिये भगवान्‌ने यहाँ समग्ररूपवर्णनके आदि और अन्तमें '**माम्**' पद दिया है, जो समग्रका वाचक है—'**मामाश्रित्य**' (७। २९) और '**मां ते विदुः**' (७। ३०)।

भगवान्‌ने कर्मोंकी गति (तत्त्व) को गहन बताया है—'**गहना कर्मणो गतिः**' (गीता ४। १७), पर भक्त उसको भी जान लेता है। कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म (४। १८)—दोनोंको भक्त जान लेता है। तात्पर्य है कि वह कर्मको भी जान लेता है और कर्मयोगको भी जान लेता है। कर्मयोगी तो कर्मयोगको ही जानता है और ज्ञानयोगी ज्ञानयोगको ही जानता है, पर भक्त भगवत्कृपासे कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंको ही जान लेता है।

इसी अध्यायके पहले श्लोकमें आये '**योगं युञ्जन्मदाश्रयः**' को यहाँ '**मामाश्रित्य यतन्ति ये**' पदोंसे और '**मय्यासक्तमनाः**' को यहाँ '**युक्तचेतसः**' पदसे कहा गया है। तात्पर्य है कि मेरा आश्रय लेनेसे भक्तको कर्मयोग तथा ज्ञानयोगकी भी सिद्धि हो जाती है अर्थात् वे दोनोंके फल (लक्ष्य) रूप ब्रह्मको भी जान लेते हैं—'**ते ब्रह्म तद्विदुः**' और मेरे समग्ररूपको भी जान लेते हैं—'**मां ते विदुः**'।

'**प्रयाणकालेऽपि**' में '**अपि**' पद देनेका तात्पर्य है कि वे भक्त मेरेको पहले भी जानते हैं और अन्तकालमें भी जानते हैं अर्थात् उनका ज्ञान कभी लुप्त नहीं होता। ऐसे भक्त 'युक्तचेता' हो जाते हैं अर्थात् उनके मनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, प्रत्युत केवल भगवान् ही रहते हैं। भगवान्‌के साथ उनकी अभिन्नता (नित्ययोग) होनेसे न वे भगवान्‌से वियुक्त होते हैं, न भगवान् उनसे वियुक्त होते हैं। ऐसे युक्तचेता भक्त अन्तकालमें कुछ भी चिन्तन होनेपर भी योगभ्रष्ट नहीं होते, प्रत्युत भगवान्‌को ही प्राप्त होते हैं—'**प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः**'। कारण कि उन भक्तोंकी दृष्टिमें जब भगवान्‌के सिवाय किंचिन्मात्र भी कुछ नहीं है, तो फिर उनका मन भगवान्‌को छोड़कर कहाँ जायगा? क्यों जायगा? कैसे जायगा? उनके मनमें कुछ भी चिन्तन होगा तो भगवान्‌का ही चिन्तन होगा, फिर उनका मन विचलित कैसे होगा और मनके विचलित हुए बिना वह योगभ्रष्ट कैसे होगा? कारण कि करणसापेक्ष साधनमें योगसे मनके विचलित होनेपर ही मनुष्य योगभ्रष्ट होता है—'**योगाच्चलितमानसः**' (गीता ६। ३७); परन्तु सब जगह भगवान्‌को देखनेवालेका भगवान्‌से नित्ययोग रहता है।

भगवान्‌के कुछ भक्त तो मुक्ति चाहते हैं—'**जरामरणमोक्षाय**' और कुछ भक्त प्रेम चाहते हैं—'**मां ते विदुर्युक्तचेतसः**'। मुक्ति चाहनेवाले भक्त कर्मयोग और ज्ञानयोग (ब्रह्म, अध्यात्म और कर्म) को जान लेते हैं, पर प्रेम चाहनेवाले भक्त स्वयं समग्र भगवान्‌को जान लेते हैं—'**मां विदुः**'। भगवान् अपने प्रेमी भक्तोंको कर्मयोग (बुद्धियोग) और ज्ञानयोग—दोनों प्रदान कर देते हैं (गीता १०। १०-११)। जरा-मरणरूप बन्धन और मुक्ति—दोनों ही लौकिक हैं, पर प्रेम अलौकिक है। यद्यपि साधन-भक्ति भी लौकिक है, तथापि उद्देश्य अलौकिक होनेसे वह अलौकिक साध्य-भक्तिमें चली जाती है—'**भक्त्या सञ्जातया भक्त्या**' (श्रीमद्भा० ११। ३। ३१)।

॥श्रीहरि:॥

सातवें अध्यायका सार

भगवान्‌की दो प्रकृतियाँ हैं—अपरा और परा। संसार 'अपरा' प्रकृति है और जीव 'परा' प्रकृति है। अपरा प्रकृति जड़ तथा निरन्तर परिवर्तनशील है और परा प्रकृति चेतन तथा नित्य अपरिवर्तनशील है। भगवान्‌ने अपरा और परा—दोनोंको अपनी ही प्रकृति अर्थात् स्वभाव बताया है—'**इतीयं मे**' (७। ४), '**मे पराम्**' (७। ५)। भगवान्‌का स्वभाव होनेसे अपरा प्रकृतिकी स्वतन्त्र (भगवान्‌से अलग) सत्ता नहीं है; परन्तु जीव (परा प्रकृति) अपराको सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है। यह सम्बन्ध जीव दो प्रकारसे मानता है—(१) अहंतापूर्वक; जैसे—मैं शरीर हूँ और (२) ममतापूर्वक; जैसे—शरीर मेरा है। यह माना हुआ सम्बन्ध ही सम्पूर्ण प्राणियोंके उत्पन्न होनेमें कारण है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)।

वास्तवमें सम्पूर्ण जगत्‌के कर्ता, कारण तथा कार्य एक भगवान् ही हैं। भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं—'**मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति**' (७। ७)। यह सिद्धान्त है कि सत्ता एक ही होती है, दो नहीं होती। अत: एक भगवान् ही अनेक रूपोंमें प्रकट हुए हैं। आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये पाँच महाभूत तथा इनके कार्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय—इन सबके मूल कारण भगवान् ही हैं। भगवान् ही सम्पूर्ण प्राणियोंके अनादि तथा अविनाशी बीज हैं। तात्पर्य है कि सृष्टिमें जो कुछ भी क्रिया, पदार्थ, भाव आदि देखने-सुनने-समझनेमें आते हैं, उन सबके बीज (मूल कारण) एकमात्र भगवान् ही हैं। कारण ही कार्यरूपमें परिणत होता है*। अत: कारणकी तो स्वतन्त्र सत्ता होती है, पर कार्यकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। इसलिये अगर कोई साधक कार्यमें भगवान्‌को प्राप्त करना चाहे तो उसको भगवान् नहीं मिलेंगे—'**न त्वहं तेषु ते मयि**' (७। १२)। जो सबके कारणरूप भगवान्‌के शरण होते हैं, उन्हींको भगवान् मिलते हैं। परन्तु जो कारणरूप भगवान्‌के शरण न होकर कार्यरूप सत्त्वादि गुणोंमें उलझ जाते हैं, वे जन्म-मरणके चक्रमें पड़े रहते हैं। ऐसे मनुष्य कार्यरूप शरीर-संसारके सम्बन्धसे होनेवाली कामनाओंकी पूर्तिके लिये देवताओंकी शरण लेते हैं; क्योंकि वे अलौकिक भगवान्‌को साधारण मनुष्यकी तरह लौकिक मानते हैं। परन्तु जो मनुष्य तीनों गुणोंसे मोहित नहीं होते, वे भगवान्‌की शरण लेते हैं। ऐसे भक्तोंके चार भेद होते हैं—अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी। इन शरणागत भक्तोंमें भी जो 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इस प्रकार भगवान्‌के शरण हो जाता है, वह महात्मा भक्त मुक्त पुरुषोंसे भी श्रेष्ठ होनेके कारण अत्यन्त दुर्लभ है। वह महात्मा भक्त भगवान्‌की कृपासे परा-अपरासहित भगवान्‌के समग्ररूपको जान लेता है, जिसको जाननेपर फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता; क्योंकि उसके सिवाय अन्य चीज कोई है ही नहीं। उसका भगवान्‌के साथ आत्मीय सम्बन्ध हो जाता है, जिससे प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी प्राप्ति (जागृति) हो जाती है। इस प्रेमकी जागृतिमें ही मनुष्यजन्मकी पूर्णता है।

× × ×

एक अपरा प्रकृति है, एक परा प्रकृति है और एक परा-अपराके मालिक परमात्मा हैं। सम्पूर्ण शरीर-संसार (अधिभूत) अपरा प्रकृतिके अन्तर्गत और सम्पूर्ण शरीरी (कृत्स्न अध्यात्म) परा प्रकृतिके अन्तर्गत आते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मात्र शरीर (संसार) भी एक हैं और मात्र शरीरी (जीव) भी एक हैं तथा अपरा और परा—ये दोनों जिसकी शक्तियाँ हैं, वे परमात्मा भी एक हैं। अत: शरीरोंकी दृष्टिसे, आत्माकी दृष्टिसे और परमात्माकी दृष्टिसे—तीनों ही दृष्टियोंसे हम सब एक हैं, अनेक नहीं हैं—'**नेह नानास्ति किञ्चन**' (कठ० २। १। ११, बृहदा० ४। ४। १९)।

सम्पूर्ण शरीरोंमें एकता स्वीकार करनेपर किसी भी प्राणीसे राग अथवा द्वेष नहीं होगा और सम्पूर्ण प्राणियोंके हितका भाव होगा। ऐसा होनेसे 'कर्मयोग' सुगमतापूर्वक स्वत: सिद्ध हो जायगा। कारण कि जब अपनेसे भिन्न दूसरा कोई है ही नहीं और व्यक्तिगत अपना कुछ है ही नहीं तो फिर अपने पास जो भी वस्तु है, उसमें ममता नहीं होगी और जो वस्तु नहीं है, उसकी कामना नहीं होगी। ममता और कामना न होनेपर अपने पास जो भी

---

* भगवान् कार्यरूपमें परिणत नहीं होते, प्रत्युत कार्यरूपसे प्रकट होते हैं।

वस्तु है, वह स्वतः दूसरोंकी सेवामें लगेगी।

सम्पूर्ण जीवोंमें एकता स्वीकार करनेपर सर्वत्र आत्मभाव अथवा ब्रह्मभाव हो जायगा—**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (छान्दोग्य० ३। १४। १), **'आत्मैवेदं सर्वम्'** (छान्दोग्य० ७। २५। २)। ऐसा होनेसे 'ज्ञानयोग' सुगमतापूर्वक स्वतः सिद्ध हो जायगा। कारण कि अनेक रूपसे जो जीव है, वही एक रूपसे ब्रह्म है अर्थात् जीव और ब्रह्म एक ही हैं—**'अयमात्मा ब्रह्म'** (माण्डूक्य० १)।

अपरा और परा—इन दोनों प्रकृतियोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है; क्योंकि ये दोनों भगवान्‌की शक्तियाँ, स्वभाव होनेसे भगवत्स्वरूप ही हैं। ऐसा स्वीकार करनेसे सर्वत्र भगवद्भाव हो जायगा—**'वासुदेवः सर्वम्'** (७। १९)। ऐसा होनेसे 'भक्तियोग' सुगमतापूर्वक स्वतः सिद्ध हो जायगा। कारण कि 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—यही वास्तविक शरणागति है।

तात्पर्य यह निकला कि जगत्, जीव और परमात्मा—तीनोंकी दृष्टिसे हम सब एक समान हैं। इस समताको गीताने 'योग' कहा है—**'समत्वं योग उच्यते'** (गीता २। ४८)। भेद (विषमता) केवल व्यवहारके लिये है, जो अनिवार्य है; क्योंकि व्यवहारमें समता सम्भव ही नहीं है। अतः साधककी दृष्टि (भावना) सम होनी चाहिये—**'सर्वत्र समदर्शनः'** (गीता ६। २९), **'पण्डिताः समदर्शिनः'** (गीता ५। १८), **'समबुद्धिर्विशिष्यते'** (गीता ६। ९), **'सर्वत्र समबुद्धयः'** (गीता १२। ४)। व्यवहारकी भिन्नता तो स्वाभाविक है, पर भावकी भिन्नता मनुष्यने अपने राग-द्वेषसे पैदा की है। राग-द्वेषके कारण ही मनुष्यने जगत्, जीव और परमात्मा—तीनोंमें अनेक भेद पैदा कर लिये हैं, जो इसके जन्म-मरणका कारण है—**'मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति'** (कठ० २। १। ११)। जो किसीको भी पराया मानता है, किसीका भी बुरा चाहता, देखता तथा करता है और संसारसे कुछ भी चाहता है, वह न तो कर्मयोगी हो सकता है, न ज्ञानयोगी हो सकता है और न भक्तियोगी ही हो सकता है।

जगत्, जीव और परमात्मा—इन तीनोंपर विचार करें तो स्वतन्त्र सत्ता एक परमात्माकी ही है। जगत् और जीवकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जगत्‌को जीवने ही धारण किया है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (७। ५) अर्थात् जगत्‌को सत्ता जीवने ही दी है, इसलिये जगत्‌की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जीव परमात्माका ही अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७), इसलिये खुद जीवकी भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। तात्पर्य है कि जगत्‌की सत्ता जीवके अधीन है और जीवकी सत्ता परमात्माके अधीन है, इसलिये एक परमात्माके सिवाय अन्य कुछ नहीं है—**'सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९। १९)। जगत् और जीव—दोनों परमात्मामें ही भासित हो रहे हैं।

\~\~

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः॥

\~\~